ॐ श्री परमात्मने नमः

तृतीय अध्याय

तृतीय अध्याय कर्म योग के नाम से जाना जाता है। उस काल में 'कर्म' शब्द बहुत भ्रांति युक्त था और 'कर्म योग' शब्द का व्यवहार करने से अर्जुन उसका अर्थ यज्ञ याग आदि कर्म काण्ड, जो पुण्य कमाने के लिए प्रचलित थे, ही लेता। अतः दूसरे अध्याय में भगवान ने सूत्र रूप से कर्म योग का उपदेश दिया तो अवश्य, पर इस शब्द के स्थान पर बुद्धियोग शब्द का व्यवहार किया।

गीता का मूल प्रयोजन क्या है इस पर सब विद्वानों में मतभेद है कोई कहता है कि ज्ञान सुनने के बाद अर्जुन ने कहा-'नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा', अर्थात् गीता का प्रयोजन मोह दूर करना था अतः तिलक ने अपने भाष्य का नाम अनासक्ति योग दिया है। किसी के मत में गीता शरणागति को सर्वाधिक महत्व देती है क्योंकि अंत में भगवान ने कहा है 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज', किसी ने इसे कर्म का विज्ञान बताया है और कोई कहता है कि इसमें ज्ञान, भक्ति कर्म आदि सभी का समन्वय है। हम यदि कहें कि यह बुद्धि योग है तो इसमें सभी बातें आ जाती हैं। गीता हमारी बुद्धि को परिष्कृत करती है। हम हिमालय में हों या संसार में, हम परमात्व तत्व का चिंतन कर रहे हों या अपने परिवार का पालन, गीता हमें बताती है कि हर स्थिति, हर कर्म में हमारी बुद्धि कैसी हो। कर्म हम जो कर रहे हैं वही करें, पर उसके पीछे की बुद्धि यदि बदल गई, मोह रहित, आसक्ति रहित हो गई तो वही कर्म योग हो जाएगा, यज्ञ से भी महान हो जाएगा। गीता बताती है कि भगवान का भजन भी करें तो किस बुद्धि से, दान, तप आदि भी करे तो किस बुद्धि से करें, संसार की ओर दृष्टिपात भी करे तो किस बुद्धि से। यह सब गीता के विभिन्न अध्यायों में बताया गया है। तृतीय अध्याय में कर्म के पीछे की बुद्धि और भावना उल्लेख है अतः इसे कर्मयोग कहा गया है।

द्वितीय अध्याय का नाम था सांख्य योग। जो वस्तु जैसी है वैसी बता

देने को सांख्य कहते हैं और इच्छित वस्तु से मेल हो जाने को योग कहते हैं। द्वितीय अध्याय में पहले भगवान ने बताया परमात्मा क्या है और हमारे साथ उसका क्या संबंध है। देह की नश्वरता, आत्मा की अनश्वरता का विवेचन करते हुए जीव की वर्तमान स्थिति बताई और कहा–कर्म करो लेकिन परिष्कृत बुद्धि से। तुम्हारी बुद्धि में राग द्वेष, मोह, ममता, लोभ, अहंकार आदि का मल न लगा हो। कर्म की कुशलता इसमें ही है। इस प्रकार कर्म करते–करते तुम ऐसी स्थिति में पहुंच जाओगे जब तुम्हारा मन पूरी निस्संग हो जाएगा। तुम सुख–दुख में सम हो जाओगे और यह सब कहते हुए बताया कि कर्म इस बुद्धि योग से बहुत हीन है। यहां अर्जुन के मन में प्रश्न उठा कि यदि हम अपना कर्तव्य कर्म करने जाएंगे तो मन तो बाहर की और दौड़ेगा ही और यदि असंगता, अनहंकार आदि का ज्ञान कर्म से श्रेष्ठ है तो क्यों न हम सीधे उसी को अपनाएं। फिर कर्म करने की जरूरत ही क्या है? अर्जुन का मन तो पहले ही से कर्म में प्रवृत नहीं हो रहा था अत: उसके पूर्वाग्रह युक्त मन ने 'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगात् धनंजय' को तो स्वीकार कर लिया पर 'योगस्थ: कुरु कर्माणि सगं त्यक्त्वा धनंजय' को स्वीकार नहीं किया। उसे लगा कि कभी तो भगवान कर्म को हीन बताते हैं और कभी कहते हैं कर्म करो, और कर्म भी कैसा– युद्ध ! जिसमें लाखों लोगों का रक्त बहने वाला है, हजारों बहनें विधवा होने वाली है, लाखों माओं की गोद सूनी होने वाली है। अर्जुन भ्रमित हो जाता है। वह बेचारा तो पहले से ही मतिभ्रम का शिकार था, भगवान की बातों से थोड़ी सी चेतना आई थी और फिर उसकी बुद्धि मोहित हो गई। लेकिन अच्छी बात यह थी कि कृष्ण पर उसकी श्रद्धा नहीं डिगी। उसने यही समझा कि वह स्वयं ठीक नहीं समझ पा रहा है और भगवान से प्रार्थना की कि वे स्पष्ट रूप से निर्देश दें कि उसे क्या करना चाहिए।

अर्जुन उवाच

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।
व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

हे जनार्दन, यदि आपके मत में ज्ञान कर्म की अपेक्षा श्रेष्ठ है तो हे केशव आप मुझे ऐसे भयंकर कर्म में क्यों नियोजित कर रहे हैं?

इन मिश्रित भाव वाले वाक्यों से आप मेरी बुद्धि को मोहित-सा कर रहे हैं। मुझे ऐसा एक निश्चित मार्ग बताइये जिसके द्वारा मैं कल्याण को प्राप्त कर सकूं।

यहां अर्जुन ने एक ही श्लोक में भगवान को जनार्दन और केशव दो नामों से सम्बोधित किया है। इसके द्वारा व्यास जी ने अर्जुन की कातरता को लक्षित किया है। जब हम अत्यन्त दीन अवस्था में होते हैं और कोई सहायता करने वाला दिखाई देता है तो हम पुकारते हैं- 'ओ बाबू, ओ भैया, जरा हमारी सहायता करो न!' अर्जुन भी अत्यन्त दैन्यावस्था में श्रीकृष्ण को बुला रहा है। वे कभी कह रहे हैं 'बुद्धौ शरणमन्विच्छ' और कभी कह रहे हैं 'तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।' उसे लगता है कि यदि ब्राह्मी स्थिति को पाना, स्थित प्रज्ञ होना ही जीवन का लक्ष्य है तो उस लक्ष्य की प्राप्ति युद्ध जैसे घोर हिंसक कर्म से कैसे हो सकती है। उसने अपनी शंका स्पष्ट शब्दों में व्यक्त कर दी और जब श्रीकृष्ण पर उसका कोई असर नहीं देखा तो फिर अपनी बात पर जोर देते हुए कहा कि आपके मिश्रित वाक्यों ने तो मेरी बुद्धि को भ्रमित कर दिया है। मैं वैभव नहीं, कल्याण (श्रेयस्) चाहता हूं और पूरी तरह आपकी शरण में हूं, आप ही स्वयं निश्चित कर लें कि मेरे लिए क्या करना उचित है और फिर मुझे बता दें।

यहां अर्जुन और श्रीकृष्ण की गहन आत्मीयता भी प्रकट होती है और श्रीकृष्ण के प्रति अर्जुन की श्रद्धा भी। उसके अन्य गुणों का भी परिचय मिलता है। अर्जुन के मन में लोकहित की भावना प्रबल थी। मनुष्य को यदि वैभव, राज्य, सुख आदि मिलता है तो प्रायः दूसरों की कीमत पर। किसी की जेब से निकला पैसा ही दूसरे की जेब में जाकर उसे सम्पन्न बनाता है, लेकिन श्रेयस् तब है जब पूरा समाज सम्पन्न बने और उसमें मुझे मेरा हिस्सा मिले। अर्जुन के हृदय में यही भावना थी और साथ ही इतना विश्वास था कि श्रीकृष्ण उसके लिए जो निश्चित करके कह देंगे वह ठीक होगा। मन की यह निर्मलता और श्रद्धा की भावना ही भगवान को भक्त का सेवक बना

सकती है। भगवान उत्तर में कहते हैं:-

श्री भगवानुवाच

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मनायघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

हे अनघ (निष्पाप) अर्जुन, इस संसार में दो प्रकार की निष्ठा मेरे द्वारा पहले ही बताई गई है। ज्ञनियों के लिए ज्ञान योग की और कर्मियों के लिए कर्मयोग की।

अब तक भगवान ने आत्मज्ञान और निष्काम कर्म का उपदेश देते हुए भी शब्द बुद्धियोग ही प्रयुक्त किया था, प्रस्तुत श्लोक में उन्होंने अधिकारी भेद के अनुसार ज्ञान योग और कर्म योग इन दो शब्दों का अलग-अलग उल्लेख किया है।

वास्तव में ब्राह्मी स्थिति या निस्संगता अथवा परमात्म तत्व की प्राप्ति कोई बाहरी वस्तु तो है नहीं जिसे पाने के लिए हमें मेहनत करने की आवश्यकता हो। यह तो हमारा वास्तविक स्वरूप है। हमारा सत्य स्वरूप जीवभाव नहीं शिवभाव है, किन्तु अज्ञान वश हम अपने को क्षुद्र जीव समझ बैठते हैं। सच्चिदानन्द स्वरूप का अज्ञान ही हमें विषादयुक्त जीव बनाता है जो अपनी खुशियों के लिए छोटे-छोटे कतरों को बटोरने की कोशिश करता रहता है, अधिक धन, ऊंचे पद, सुन्दर मकान, योग्य पुत्र आदि में जीवन की पूर्णता तलाशता रहता है। अत: आवश्यकता तो इस बात की है कि हमें संसार की क्षणभंगुरता, नश्वरता और मिथ्यात्व का ज्ञान हो जाए और आत्मा की अजरता अमरता को समझ जाएं तो वही स्थिति ब्राह्मी स्थिति या जीवन्मुक्त अथवा स्थितप्रज्ञ की अवस्था होगी।

अब प्रश्न है कि यह ज्ञान हो कैसे? हमें किसी गुरु ने कह दिया और हमने मान लिया। हम कहेंगे कि हमें ज्ञान तो हो गया, हमने अच्छी तरह समझ लिया है कि देह नश्वर है, आत्मा अमर है फिर हमें आनन्द की प्राप्ति क्यों नहीं हुई? आपने यदि गुरु के पास समझ लिया और घर जाकर

अपने पुत्र को एक्सीडेन्ट में घायल पाया तो आप रोने लगे? अपने पुत्र की मृत्यु की कल्पना मात्र से इतने भयभीत क्यों हो गए कि इतना भी विवेक नहीं रहा कि अब इसे किस अस्पताल में, किस डाक्टर के पास ले जाना चाहिए? क्यों पड़ोसियों को ही आकर पुत्र के साथ-साथ आपको भी सम्भालने की आवश्यकता हुई? आपको तो समझ लेना था कि पुत्र की आत्मा अनश्वर है, उसकी देह जीर्ण हो गई है और अब वह नवीन वस्त्र अर्थात् नया शरीर धारण करने जा रही है। लेकिन नहीं। तो फिर ऐसा ज्ञान किस काम का जो पुस्तकों में रहे, सत्संग भवन तक ही रहे, बाहर काम न आए।

ऐसा इसलिए होता है कि वास्तव में हम जिसे ज्ञान समझते हैं वह ज्ञान नहीं। शास्त्रों से, प्रवचनों से हमें दिशा-निर्देश अवश्य मिलता है पर उस ज्ञान को वास्तव में धारण करने के लिए अत्यधिक विचार, चिंतन और साधना की आवश्कता है। एक वैज्ञानिक भी यदि किसी वस्तु का गहन अध्ययन कर कुछ जानना चहता है, किसी नये वाइरस का उसे आभास हुआ है और उसके विषय में वह पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो उसे रात-दिन प्रयोगशाला में बिताने पड़ते हैं। ऐसे लोग साधारण व्यक्तियों की तरह डिस्को क्लब या कसीनों में समय नहीं गुजार सकते। सुख-आराम को त्याग कर उसे खोज में लगना पड़ता है तब जाकर कुछ सफलता मिलती है। ज्ञान के इस दुरूह मार्ग पर चलने की सामर्थ्य रखने वाले व्यक्ति इस संसार में कितने हैं? लाखों छात्र यूनिवर्सिटी से पढ़ कर निकलते हैं तो मुट्ठी भर रिसर्च स्कॉलर बनते हैं।

जब एक मामूली सी खोज या आविष्कार का यह हाल है तो जीवन के परम सत्य को जानने के लिए तो कितने विचार और चिंतन की आवश्यकता होगी जिसके अधिकारी सब हो नहीं सकते । हम साधारण लोग तो ऐसे होते हैं जो दो मिनट भी हाथ-पांव या मुंह हिलाना बंद करके बैठ नहीं सकते। कुछ देर चुप बैठना पड़े तो अन्दर ही अन्दर घबराहट होने लगती है। हम क्या चिंतन करेंगे? कैसे हममें एकाग्रता आएगी कि हम अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को जान सकें? हमें तो चाहिए कुछ करें। महात्माओं के पास भी जाते हैं तो पूछते हैं महात्माजी हम क्या करें कि आत्मज्ञान हो जाए। अरे भाई! ज्ञान तो कुछ भी न करने से होगा लेकिन महात्मा जी यदि यह कह कर

हमें वापस भेज दें तो क्या उचित होगा? इसलिए वे हमें कुछ बताएंगे जिससे कि हमारी चंचलता कुछ कम हो, मन एकाग्र हो सके, वृत्तियां सांसारिक सुख और माया-मोह से हट कर परमात्म चिंतन में लगें। तो यह जो उन्होंने बताया, यह हमें परमात्मा से मिलाने का साधन हुआ कि नहीं? यही कर्मयोग के नाम से भगवान गीता में बताते हैं अतः वे अर्जुन से कहते हैं कि मैं पहले ही तुम्हें दो तरीके बता चुका हूं जो दो अलग-अलग प्रकार के लोगों के लिए है। ज्ञानियों के लिए ज्ञान योग और कर्म मे प्रवृत्त लोगों के लिए कर्म योग।

अर्जुन की भी अवस्था देंखे तो वह जन्म से ही नहीं स्वभाव से भी क्षत्रिय था। उस जैसा व्यक्ति यदि क्षणिक आवेश में सब कुछ त्याग साधू बनने को चल भी पड़ता है तो क्या उसके संस्कार, उसका स्वभाव, उसकी वृत्तियां उसे आत्मचिंतन करने देतीं? अब तक उसने तपस्या भी की थी तो अस्त्र-शस्त्रों की उपलब्धि के लिए ही, जिनका वह रणभूमि में उपयोग कर सके। ऐसे व्यक्ति के लिए भगवान कैसे निश्चित कर दें कि तुम कर्म छोड़ कर साधु बन जाओ? अतः उन्होंने कहा, तुम युद्ध करो लेकिन लाभ-अलाभ, जय-पराजय के प्रति असंग रह कर। अर्जुन यदि युद्ध करता तो आत्मग्लानि उसे शांत नहीं रहने देती, अतः कोई तो रास्ता चाहिए कि युद्ध भी करें और उसमें की गई हिंसा की ग्लानि भी न हो, अपने कर्तव्य के निर्वाह में चूक भी न हो। इसी का ही तरीका भगवान ने यह बताया था, 'ततो युद्धाय युध्यस्व लाभालाभौ जयाजयौ,' लेकिन अर्जुन अभी-अभी कोमा से उठा है, उसकी बुद्धि इतनी चैतन्य नहीं हुई थी कि इन सूक्ष्म बातों को ग्रहण कर सके। वह भ्रमित हो गया। लेकिन अच्छा हुआ कि फिर भगवान की ही शरण में रहा और दयामय भगवान उसे विस्तारपूर्वक सब समझाते हैं।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

केवल कर्म का आरम्भ न करने से ही मनुष्य नैष्कर्म्य की अवस्था को नहीं पा लेता, न ही कर्म का त्याग कर देने मात्र से सिद्धि को पाता है।

बुद्धिजीवियों के साथ एक मुश्किल यह है कि एक बार उनकी कोई

धारणा बन जाए तो उसे अलग करना बहुत मुश्किल है। आप कोई भी दलील दें, वह उसमें से अपने मतलब की बात पकड़ लेगा। इसी प्रकार अर्जुन की यह धारणा बन गई थी कि उसे युद्ध नहीं करना चाहिए अत: जब भगवान ने तर्क के क्रम में कहा, 'त्रैगुण्य विषया वेदा: निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन', तो उसने वह बात पकड़ ली। जब वेदों में वर्णित कर्मों को ही त्यागने की बात कह रहें है तो युद्ध तो त्याज्य है ही। वह निष्काम कर्म न समझ कर नैष्कर्म्य की बात समझ बैठा, वही उसने पकड़ लिया। अब जब तक इसके मूल पर प्रहार नहीं होगा उसकी धारणा मिटने वाली नहीं। इस नैष्कर्म्य (actionlessness) का विज्ञान जरा समझ लें। जीव का सच्चिदानन्द स्वरूप वासना से आवृत्त रहता है जिसके कारण पहले बुद्धि में कामना होती है फिर मन में चंचलता आती है इसके फलस्वरूप इच्छित वस्तु पाने के लिए शरीर कर्म करता है। अर्थात् नैष्कर्म्य के साथ-साथ नि: चंचलता और निष्कामता होना चाहिए लेकिन अर्जुन ने इन बातों को किनारे कर केवल नैष्कर्म्य शब्द को ही पकड़ लिया। भगवान समझ गए हैं कि उसके भ्रम का मूल क्या है, अत: नैष्कर्म्य के विषय में उसकी भ्रांति दूर कर रहे हैं।

भगवान कहते हैं- हे अर्जुन, तुम सोचते हो कि नए कर्म न करके या जो कर्म कर रहे हो उन्हें भी त्याग कर तुम नैष्कर्म्य की अवस्था को प्राप्त कर लोगे तो यह तुम्हारी भूल है। कर्म करके ही तुम नैष्कर्म्य की स्थिति को प्राप्त कर सकते हो अन्यथा नहीं। जैसे-चार मित्र कहीं जा रहे थे, रास्ते में उन्हें भूख लगी । वे एक जगह रुक गए और भोजन पकाने लगे। चारों ने काम बांट लिया। एक आग जलाएगा, दूसरा पानी लाएगा, तीसरा भोजन पकाएगा और चौथे को कहा गया कि जब खाना-पीना हो जाए तो आग बुझा देना वर्ना जंगल में आग फैल भी सकती है। चौथे ने कहा, 'यदि आग बुझानी ही है तो जलाई ही क्यों जाए।' लेकिन यदि आग जलाई ही नहीं जाएगी तो वे भूख से तड़प कर मर जाएंगे, फिर उनके शरीर में आग जलाने या न जलाने की बात करने की भी सामर्थ्य नहीं रहेगी, अत: आवश्यक है कि पहले आग जलाई जाए और जब वह स्थिति आ जाए कि आग की आवश्यकता न हो तो उसे बुझा दिया जाए।'

लेकिन अर्जुन भला इतना विचार क्यों करने लगा, वह तो सोच रहा था कि भगवान बेमतलब अर्थ को तोड़-मरोड़ रहे हैं। नैष्कर्म्य का अर्थ

सीधा-सीधा है- कर्म न करना, बस। भगवान उसके विचारों को पढ़ लेते हैं और अगले श्लोक में बताते हैं कि सीधा मतलब लेना व्यवहारिक ही नहीं है। वे कहते हैं-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

कभी कोई क्षण भर के लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुण सबको विवश करके उनसे कर्म कराते रहते हैं।

कर्म रहितता की अवस्था को सीधे ही पा लेना सम्भव नहीं है, क्योंकि हमारी कर्मेन्द्रियां और ज्ञानेन्द्रियां हैं ही बहिर्मुखी। वे एक क्षण के लिए भी शान्त नहीं बैठ सकतीं। किसी एक इन्द्रिय को जबरदस्ती शान्त कर भी लिया जाए तो दूसरी इन्द्रिय अत्यधिक सक्रिय हो उठती है। जब हम आंखें बन्द करके ध्यान लगाने की कोशिश करते हैं, तो कान को वह सब सुनाई देने लगता है जो साधारण अवस्था में हमें सुनाई नहीं देता। नाक को दूर-दूर से आती विभिन्न गंध का पता लगने लगता है। मन में विचारों का सैलाब उठ खड़ा होता है। जब प्रकृति द्वारा शरीर इसी प्रकार से निर्मित है, तो अर्जुन जैसा कर्मवीर सोचे कि मैं हिमालय में जाकर शान्त बैठूंगा तो वह सम्भव है क्या? पानी को ऊपर से नीचे गिराने में कुछ मेहनत नहीं होती क्योंकि वह उसकी प्रकृति है, लेकिन नीचे से ऊपर ले जाने के लिए कुशलता चाहिए, पम्प लगाना पड़ता है। यह काम एकदम आसान नहीं है। इसी प्रकार त्रिगुणात्मिका प्रकृति द्वारा निर्मित शरीर को यदि नैष्कर्म्य की अवस्था में ले जाना है तो वह अकर्म द्वारा नहीं पाया जा सकता है। अकर्म और नैष्कर्म्य, दोनों बाह्य तौर पर एक ही लग सकते हैं, पर दोनों में बहुत अंतर होता है। अकर्म तो है कर्म न करना लेकिन नैष्कर्म्य वह उच्च अवस्था है जब कर्म अपने आप छूट जाते हैं, उनकी आवश्यकता ही नहीं रहती। तपस्वी साधु देखने में अकर्मण्य लगते हैं, लेकिन एक शिला पर बैठ कर ध्यान लगाना अति कठिन कर्म है जो साधारण व्यक्ति के बस का है ही नहीं। उदाहरण के लिए

तैरना आरम्भ ही न करना अकर्म है, लेकिन तैराक जब बहुत कुशल हो जाता है तो घंटों पानी में बिना हाथ पांव चलाए पड़ा रह सकता है। यह नैष्कर्म्य है जो बिना तैरना सीखने के कर्म के नहीं पाया जा सकता। इसीलिए भगवान को इस नये अर्थ की जरूरत पड़ी है। नैष्कर्म्य का सीधा अर्थ लगाना सम्भव ही नहीं है, अतः भगवान की सलाह है-'अर्जुन, तू कर्म कर'।

जबर्दस्ती कर्म का त्याग करके बैठ जाने वाले के विषय में भगवान कहते हैं:-

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

जो कर्मेन्द्रियों को रोक कर मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है वह मूढ़ व्यक्ति मिथ्याचारी कहलाता है।

कर्म और कर्म करने वाले के बीच में चार प्रकार का संबंध रह सकता है -

१. व्यक्ति कामना से संचालित कर्म भी करे और उसमें कर्त्तापन का अहंकार भी रहे। यह साधारण मनुष्य की अवस्था है। कामना के अनुसार कर्म अच्छे बुरे होंगे।

२. मनुष्य कर्म करे पर व्यक्तिगत कामना न रहे फिर भी कर्त्तापन की भावना रहे। ऐसा व्यक्ति देश या समाज के लिए कार्य करता है। उसके कार्य पुण्य कर्म ही होते हैं पर वे बंधन पैदा करते हैं क्योंकि उनमें कर्त्तापन है।

३. व्यक्ति कर्म भी न करे, कामना भी न हो, कर्त्तापन भी न हो। यह स्थिति तो जड़ पदार्थ की होती है या समाधि की जो बहुत कठिन है। इस स्थिति को पाने के लिए पहले दूसरे नम्बर वाली स्थिति से गुजरना आवश्यक है।

४. मनुष्य कर्म तो न करे पर कामना रहे। ऐसे व्यक्ति दूसरों को तो ठगते हैं और स्वयं अपने आप को भी धोखा देते हैं। इससे न दूसरे का भला

होता है न उनका अपना। ऐसे व्यक्ति के विषय में ही इस श्लोक में कहा गया है।

प्रस्तुत श्लोक मिथ्याचारी का वर्णन करता है। पहले ही कहा जा चुका है कि कर्म का मूल कामना और कामना का मूल वासना है। मूल हटाए बिना यदि कर्म करना बंद कर दें और आंख, नाक, कान बंद करके बैठ जाएं, सोच लें कि हाथ-पैर से न अपने लिए काम करेंगे न दूसरों के लिए, तो मन क्या चुप बैठेगा? उसके अंदर तरह-तरह के संकल्प- विकल्प उठेंगे, कामनाएं घुमड़ेंगी और वह व्यक्ति उठने को मजबूर हो जाएगा। इस प्रकार न तो वह ठीक-ठीक कर्म कर उसका लाभ ही उठा पाएगा न नैष्कर्म्य की अवस्था ही मिलेगी। इसलिए मन से इन्द्रिय भोग की वस्तु का स्मरण करते रहने वाले को भगवान मिथ्याचारी भी कहते हैं और मूढ़ भी। दूसरे अध्याय में भगवान ने बताया था कि किस प्रकार विषयों का चिंतन मनुष्य को नाश की ओर ले जाता है। (ध्यायतो विषयान्पुंसः.....बुद्धिनाशात् प्रणश्यति)

तात्पर्य यह है कि कामना संजोए हुए भोगों में थपेड़े खाने वाला तो मूर्ख है ही, उनसे अपनी इन्द्रियों को बलात् हटाने वाला मूर्ख के साथ-साथ मिथ्याचारी भी है तो फिर सही क्या है? भगवान कहते हैं-

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

किंतु हे अर्जुन, जो मन के द्वारा (ज्ञान) इन्द्रियों को निग्रह करके अनासक्त भाव से कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म योग का अनुष्ठान करता है वह श्रेष्ठ है।

पहले हमारी इन्द्रियां भी भाग रही थी, मन भी भाग रहा था और हम दुख पा रहे थे। फिर हमने सोचा कि इन्द्रियों को रोक लें, मन जाता है तो जाए, इसमें तो विनाश की संभावना और अधिक जान पड़ती है, इसलिए सफलता का गुर इस श्लोक में बताया गया है- पहले मन को संयमित करें, अनासक्त करें। इन्द्रियां मन को न नचाएं बल्कि मन इन्द्रियों का संचालन

करे। तब संयमित मन द्वारा संचालित इन्द्रियां भी संयमित अनुशासित होकर कर्म करने को तैयार रहेगी। ऐसी इन्द्रियों को कर्मयोग में लगाएं तब हमें सफलता मिलेगी।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में शब्दों के चयन में बड़ी सावधानी बरती है। भ्रम उत्पन्न करने वाले शब्दों की काल की आवश्यकता के अनुसार परिभाषा बदल दी गई है या उनका व्यवहार ही नहीं किया गया है। इसी प्रकार का एक शब्द है- वैराग्य। भोग्य पदार्थों की कामना न रहने को वैराग्य कहते हैं लेकिन भगवान इस शब्द का व्यवहार जानबूझ कर नहीं कर रहे हैं, क्योंकि वैरागी कहते ही अर्जुन के मानस पटल पर साधु का चित्र अंकित हो जाएगा। वह तो पहले से ही सब कुछ छोड़छाड़ कर साधु बनने को तैयार बैठा था अत: भगवान दूसरा शब्द प्रयुक्त करते हैं-अनासक्ति। जो अनासक्त होगा वह विषयों से उदासीन होगा ही। आसक्ति ही हमें विषयों की ओर खींचती है। अत: ज्ञानी के लिए जो अर्थ वैराग्य का है गृहस्थ के लिए वही अनासक्ति का है। अंतर केवल यह है कि वैराग्य से संसार के त्याग का आभास मिलता है और अनासक्ति से यह समझ में आता है कि हमें रहना संसार में है पर इसके माया मोह में नहीं पड़ना है। इस प्रकार मन अनासक्त और इन्द्रियां संयमित हो जाए तो हम जो कर्म करेंगे उसके पीछे व्यक्तिगत स्वार्थ की कामना नहीं रहेगी।

ज्ञानी और कर्मी दोनों के विचार अलग-अलग होते हैं। ज्ञानी तो चिंतन के द्वारा जानता है कि जो कार्य हो रहा है वह प्रकृति द्वारा निर्मित शरीर के द्वारा हो रहा है-'गुणा गुणेषु वर्तन्त।' वास्तव में वह कर्ता या भोक्ता है ही नहीं। इस प्रकार वह कर्म करता भी है तो उससे बंधता नहीं, लेकिन कर्मयोगी अपनी कामनाओं का त्याग करने का प्रयत्न करता है, अपने कर्तापन को ईश्वर को समर्पित करता है। ज्ञानी के जीवन में कर्म का अभाव दिखता है और कर्मयोगी के जीवन में कर्म का बाहुल्य, पर मूल बात यही है कि दोनों के जीवन में कामना और कर्तापन नहीं रहता। इस प्रकार भगवान कर्म करने को कहते हैं।

अर्जुन ने पूछा था मुझे क्या करना चाहिए यह आप निश्चित बताइए और भगवान कहते हैं तुझे कर्म ही करना चाहिए- नियत कर्म।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः।।८।।

तू नियत कर्म कर क्योंकि अकर्म से कर्म श्रेष्ठ है फिर कर्म न करने से तेरे शरीर की रक्षा भी तो नहीं होगी।

कर्म कई प्रकार के होते हैं। निषिद्ध कर्म तो वे हैं जिन्हें किसी भी अवस्था में नहीं करना चाहिए। काम्य कर्म वे हैं जिन्हें करने से कामनाओं की पूर्ति का सुख तो मिलेगा लेकिन नयी कामनाएं जन्म ले लेगी अतः प्रसाद की प्राप्ति नहीं होगी और नियत कर्म शास्त्रों द्वारा निर्दिष्ट वे कर्म हैं जो हमारे स्वभाव के अनुरूप हैं, हमारे कर्तव्य की श्रेणी में आते हैं। सहज भाव से इन्हें करते रहें तो वासनाएं पैदा नहीं होती लेकिन इन्हें न करें तो दोष होगा। जैसे स्नान करने से कोई नई वासना पैदा नहीं होगी पर स्नान न करने या गलत तरीके से स्नान करने पर हमारा शरीर दूषित या रोगी हो जाएगा। इन्हीं नियत कर्मों को भगवान ने स्वधर्म, निर्दिष्ट कर्म, सहज कर्म, कर्तव्य आदि नामों से पुकारा है।

भगवान कहते हैं कि अकर्म की अपेक्षा कर्म ही श्रेष्ठ है क्योंकि कर्म न करने से तो शरीर का निर्वाह भी संभव नहीं अतः कर्म तो हमें करना ही होगा। जब कर्म करना मजबूरी है ही तो क्यों न इसे कुशलता से करें, इसकी टेकनीक सीख लें, कर्म की कुशलता ही तो भगवान योग बताते थे।

भगवान ने अर्जुन को तरह तरह से कर्म की अपरिहार्यता बताते हुए कर्म करने को कहा लेकिन अर्जुन के दिमाग में घुसा नहीं। उसे तो यह समझ में आया हुआ था कि जब हम कोई काम करते हैं तो उससे अच्छा या बुरा लगता है उसी के अनुसार उस काम को फिर से करने या न करने की इच्छा पैदा होती है और उस इच्छा की पूर्ति के लिए हम फिर कर्म करते हैं, और इस प्रकार चक्र में फंसते जाते हैं। तो सत्कर्म भी बंधन के कारण बन जाते हैं। यदि कर्म बंधन के कारण है तो इससे छूटने का उपाय भी कर्म ही कैसे हो सकता है?

हमारा शरीर गंदा हो गया है अर्थात् उसमें कुछ बाह्य वस्तु लग गई है। हम उसे छुड़ाने के लिए साबुन लगाते हैं। शरीर के लिए साबुन भी

तो मैल ही है। यदि साबुन को यूं ही शरीर पर लगा रहने दिया जाय तो वह शरीर को साफ करेगा या गंदा? साबुन से जब मैल गल जाता है तो हम पानी द्वारा धोकर मैल के साथ साबुन भी धो डालते हैं तभी शरीर स्वच्छ होता है। साबुन भी मैल है सोच कर साबुन न लगाने से हम साफ नहीं हो पाएंगे। हमें साबुन लगाना भी होगा और उससे नहाने का सही तरीका भी सीखना होगा। अर्थात् वासना के मल को धोने के लिए कर्म का साबुन लगाना अनिवार्य भी है पर उसका सही तरीका जानना होगा। यह सही तरीका ही कर्म योग है जो गीता हमें सिखाती है। भगवान की बताई हुई बुद्धि अपना कर कर्म करने से हर कर्म पूजा बना जाता है, यज्ञ बन जाता है, कर्म योग बन जाता है।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर।।९।।

यज्ञ के लिए किए गए कर्मों के अलावा अन्य कर्मों से इस संसार में व्यक्ति कर्मबन्धन से युक्त हो जाता है, अतः हे कौन्तेय, तू आसक्ति को छोड़कर यज्ञ के निमित्त कर्म कर।

भगवान जो कहना चाह रहे हैं वह अर्जुन के लिए इतनी नयी बात है कि उसकी बुद्धि ठीक-ठीक स्वीकार नहीं करती। अतः अपनी बात को बताने के लिए वे एक लोक-प्रचलित शब्द का प्रयोग करते हैं-'यज्ञ'। पहले ही बताया जा चुका है कि गीता में प्रचलित शब्दों की बिलकुल नई परिभाषाएं दी गई हैं, ऐसा ही एक यह शब्द है 'यज्ञ'।

यज्ञ से सामान्य तौर पर समझा जाता है हवन। लेकिन यह अर्थ यहां नहीं लगाया जा सकता क्योंकि संदर्भ देखे तो अर्जुन युद्ध भूमि में खड़े होकर पूछ रहा है- 'मुझे क्या करना चाहिए।' ऐसे में यदि हम समझें कि भगवान अग्नि जलाकर घी की आहुति देने को कह रहे हैं तो यह गलती गीताचार्य की नहीं, हमारी ही मानी जाएगी। इससे और अधिक व्यापक अर्थ लिया जा सकता है- 'देवताओं के निमित्त किया गया कर्म,' यह अर्थ भी युद्ध की पृष्ठभूमि में सटीक नहीं बैठता। इस शब्द का और सूक्ष्म एवं गहन

अर्थ लेने की आवश्यकता है।

अति प्राचीन काल में यज्ञ का अर्थ था सामूहिक उपासना, ताकि लोक कल्याण हो, देश और समाज का मंगल हो। इसमें किसी की व्यक्तिगत उपलब्धि की भावना नहीं रहती थी। यह तो बाद में विकार पैदा हुआ कि लोग पुत्र की कामना से, धन की कामना से भी यज्ञ करने लगे। यज्ञ में सब वर्ण और जाति के लोग यथाशक्ति अपना अपना योगदान देते थे और सबके हृदय में लोकहित की भावना रहती थी। अत: यज्ञ शब्द का अतिव्यापक अर्थ लें तो यह होगा- देश, समाज या जाति के हित के लिए नि:स्वार्थ भाव से मिल जुल कर किया गया कोई भी कार्य। इस यज्ञ में देने की भावना रहती है। हम सूर्य से ऊर्जा प्राप्त करते हैं, यज्ञ में उन्हें हम याद कर उनके नाम से आहुति देते हैं। इसी प्रकार अग्नि, वायु, जल आदि जिन-जिन प्राकृतिक शक्तियों से हमें जीवन प्राप्त होता है उनके निमित्त आहुति दी जाती है। यज्ञ भावना हमें यह बताती है कि हम केवल लेने की प्रवृत्ति न रखें अपितु देना भी सीखें। सामूहिक भाव से यदि सभी इसी प्रवृत्ति से काम करे तो समाज, देश और जाति का मंगल तो होना ही होना है।

भगवान कहते हैं कि यज्ञ भावना से किए गए कर्म बन्धन पैदा नहीं करते। अत: हे अर्जुन, तुम आसक्ति त्याग कर (मुक्त संग) कार्य करो।

आसक्ति का अर्थ है जुड़ना और यह जुड़ना शारीरिक नहीं, मानसिक होता है। इसके पीछे कार्य करने वाली भावना होती है- आसक्ति। जिस वस्तु से मेरी इच्छा पूरी होती है उसके प्रति मैं आसक्त हूं। यह आसक्ति भी दो प्रकार की होती है- फलासक्ति और कर्मासक्ति। फलासक्ति तो कर्म के फल की आशा के कारण होती है और यह हमारे चित्त में नई कामनाएं जगाकर बन्धन पैदा करेगी- यह समझना तो फिर भी सरल है लेकिन कर्मासक्ति समझ में नहीं आती और मनुष्य को बांध भी लेती है। कभी-कभी ऐसा होता है कि लोकहित के लिए काम करते-करते मनुष्य उसमें ऐसा फंस जाता है कि उसे छोड़ नहीं सकता। उसे लगता है, 'मैं नहीं करूंगा तो सब गड़बड़ हो जाएगा' या वह सोचने लगता है कि अमुक काम छोड़ कर मैं रहूंगा कैसे? अच्छे-अच्छे वैरागी साधु अपने आश्रम से बंध जाते हैं। सच्चा अनासक्त तो वह है जो किसी भी क्षण सब कुछ छोड़ सकने का आत्मबल रखता है।

तो इस भावना से किए गए कार्य से कर्म भी हो जाता है और बन्धन भी नहीं होता। इस यज्ञ भावना के बारे में अगले श्लोकों में भगवान बड़े नाटकीय ढंग से शब्द चित्र प्रस्तुत करते हैं-

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

(सृष्टि के) प्रारम्भ में प्रजापति (ब्रह्मा) ने यज्ञ के साथ प्रजा को उत्पन्न करके कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम वृद्धि को प्राप्त होओ। यह तुम्हारे लिए अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति करने वाला (कामधुक्) बने।

भगवान अर्जुन को कह रहे हैं कि मैं तुम्हें कोई अनोखी बात नहीं बता रहा हूं, ऐसा काम करने को नही कह रहा हूं जो कोई भी नहीं करता, तुम अपने चारों ओर नजर दौड़ाओ तो यह यज्ञ भावना तुम्हें प्रकृति के हर अंग में मिलेगी। जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ है, मानव के जन्म के भी पहले से ये नदियां, सूर्य, मेघ, समुद्र, पेड़, पौधे आदि सब यज्ञ भावना से काम कर रहे हैं। सब प्रकृति को समृद्ध करने में यथाशक्ति अपना योगदान देते हैं। समुद्र यदि नदियों से जल लेता है तो मेघ बनाकर वृष्टि भी कराता है। सूर्य के तो योगदान का पारावार ही नहीं है। बदले में हम तो उसे नमस्कार कर अपनी कृतज्ञता तक प्रदर्शित नहीं करते, बल्कि इन कार्यों को तो दकियानूसी विचारधारा करार कर दिया जाता है। बीज यदि पृथ्वी से रस खींचता है तो असंख्य फल-फूल तथा अन्य बीज पैदा कर दूसरों का पोषण भी करता है। पशु भी किसी न किसी प्रकार से उपयोगी साबित होता ही है। और सृष्टि का सिरमौर कहा जाने वाला मनुष्य! सृष्टि में अकेला वही प्राणी है जो प्रकृति का शोषण करता है, बदले में देना कुछ नहीं चाहता। वह जितना अधिक बुद्धिमान बन रहा है उतना ही अधिक शोषण कर रहा है और यह सब कर क्या उसे अभीष्ट सुख-शांति मिली है- कभी नहीं मिल सकती। जब तक शोषण की प्रवृत्ति को समाप्त कर वह प्रकृति की अभिवृद्धि के लिए प्रयास नहीं करेगा, पर्यावरण का असंतुलन उसके लिए दुखदायी ही साबित होगा। सूर्य, चन्द्र, गो-माता को नमस्कार करना जड़ और पशु की पूजा करना नहीं।

यह करने से सूर्य, चन्द्र या गाय को कुछ मिल नहीं जाएगा। लेकिन मनुष्य के हृदय में कृतज्ञता को जो भाव उदित होगा वह जरूर सबके लिए मंगल कारी होगा। अभी तो हर व्यक्ति यही सोचता है- मेरे लिए किसी ने किया ही क्या है जो मैं किसी के लिए करूं। किन्तु जब उसे आभास होने लगेगा कि ये जड़ और पशु ही उसका पोषण कर रहे हैं तो कहीं तो कुछ प्रतिदान की भावना उसके हृदय में जागेगी। शोषण के स्थान पर यह यज्ञ भावना जाग जाय तो पृथ्वी पर सबको अभीष्ट मिलेगा।

इसी बात को भगवान जैसे कहानी के द्वारा अर्जुन को समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं और उस काल के प्रचलित शब्दों का सहारा ले रहे हैं। ये दो शब्द हैं- प्रजापति अर्थात् ब्रह्मा जिन्होंने इस सृष्टि का निर्माण किया है और कामधुक् अर्थात् कामधेनु। मान्यता थी कि ऋषि वसिष्ठ के पास एक गाय थी जो मन चाहा फल देती थी उसी का नाम था कामधेनु।

ब्रह्मा जी ने जब सृष्टि की रचना की उसी समय इस यज्ञ भावना का भी निर्माण किया अर्थात् सबको यह भाव दिया और कहा कि तुम इस यज्ञ भावना के द्वारा अपनी सभी कामनाओं की पूर्ति कर सकते हो।

यदि हम घर बनाने के लिए पेड़ काटते ही रहेंगे तो पर्यावरण के असंतुलन के कारण कभी अकाल, कभी बाढ़ की त्रासदी झेलनी पड़ेगी लेकिन यदि हममें यज्ञ भावना होगी तो हम पेड़ लगाएंगे भी। तब हमारी जरूरतें भी पूरी होती रहेंगी और दुख भी झेलना नहीं पड़ेगा। इस प्रकार एक दूसरे का पोषण ही स्थाई सुख की कुंजी है और इसे ही भगवान ने प्रजापति के इस रूपक के द्वारा समझाया है।

ब्रह्मा जी ने मानव बना दिया, उसकी जरूरत के सब उपकरण बना दिए। अब वे स्वयं अपनी भूमिका समाप्त कर रहे हैं और मानव से कह रहे हैं कि तुम्हें अपनी कामनाओं के लिए मेरे पास आने की जरूरत ही नहीं। यह जो यज्ञ भावना मैंने सृष्टि को दी है इससे सबको मनवांछित फल मिल सकेगा। भगवान कहते हैं-

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

इस (यज्ञ) के द्वारा देवताओं को पुष्ट करो (भावयत) और देवता तुमलोगों को पुष्ट करें (भावयन्तु वः) इस प्रकार परस्पर एक दूसरे को पुष्ट करते हुए परम कल्याण को प्राप्त होओगे।

वैदिक कथाओं के अनुसार इसका सीधा अर्थ निकलता है कि हम इन्द्र, वरुण, वायु आदि देवताओं को प्रसन्न करने के लिए अग्निहोत्र करें जिससे वे प्रसन्न होकर अच्छी वर्षा करें, जल, वायु आदि दें और हम सबका भला हो। लेकिन पहले ही बताया जा चुका है कि यहां यज्ञ का अर्थ अग्निहोत्र नहीं लिया जा सकता। अग्निहोत्र यज्ञ तो कोई गरीब आदमी कर ही नहीं सकता तो फिर उससे देवता कैसे प्रसन्न होंगे? गरीब बेचारे का कल्याण कैसे होगा? प्रजापति तो सबके कल्याण की बात कर रहे हैं। अतः यज्ञ का अर्थ वह कर्म है जिसमें निम्नलिखित बातें हो–

१. परस्पर सहयोग की भावना

२. निजी स्वार्थ और अहंकार का त्याग

३. अपनी शक्ति के अनुरूप योगदान की भावना

४. परस्पर एक दूसरे के हित का पोषण।

उपरोक्त चारों भावनाओं के साथ किया गया कोई भी कर्म यज्ञ बन सकता है। इसी प्रकार यहां प्रयुक्त 'देव' शब्द का भी व्यापक अर्थ ग्रहण करना होगा। वैदिक इतिहास देखें तो मनुष्य प्रकृति की जिन-जिन शक्तियों से लाभ पाता था या त्रस्त रहता था वे उसे अत्यंत शक्तिशाली मालूम होती थी जिनपर वह अपनी शक्ति, बुद्धि से विजय नहीं पा सकता। अतः उन्हें अनुकूल बनाने के लिए पूजा की भावना उसके मन में आई। वह उन शक्तियों को अपने से बहुत ऊंचा समझता था। अतः उसकी भावना थी कि ये देवता ऊपर आकाश में रहते हैं। जब उसने अग्नि का धुआं ऊपर उठते देखा तो सोचा कि अपना पूजा भाव प्रकट करने का यह साधन सर्वश्रेष्ठ है, यह सीधा ऊपर जाता है। अतः उसने विभिन्न देवताओं के नाम से आहुति अर्पित करनी आरंभ कर दी और जब धुआं ऊपर उठता था तो वह समझता था कि उसके द्वारा दी हुई आहुति देवता ग्रहण करेंगे। इस प्रकार यज्ञ की प्रचलित विधा का जन्म हुआ।

आज हम यज्ञ का अर्थ तो कर्मयोग ले रहे हैं पर आज भी हम जो कुछ पाते है प्रकृति की विभिन्न शक्तियों से ही पाते हैं। हम भले ही वैज्ञानिक आविष्कार कर अपने को महानतम मान ले पर वास्तविकता यह है कि ये अविष्कार प्रकृति की विभिन्न फलदायिनी शक्तियों की खोज ही है। इलेक्ट्रोन-प्रोटोन सदा से ही थे, पहले हमें मालूम नहीं था कि इनमें विद्युत शक्ति है, न हम यह जानते थे कि कैसे इनका उपयोग कर सकते हैं। जैसे-जैसे जानकारी बढ रही है, हम इस 'विद्युत देव' का अधिकाधिक लाभ उठा रहे हैं और अपनी बुद्धि पर इतरा रहे हैं। पर ध्यान दीजिए, विद्युत शक्ति का लाभ उठाने के लिए हम सबको मिलकर उसका उत्पादन करना पड़ता है और उसके जो नियम हैं उन्हें बिना गलती के, सभी को, पूरी तरह पालन करना पड़ता है। जरा सी चूक विनाश ढा सकती है। इस प्रकार परस्पर सहयोग की भावना के द्वारा ही हम इसका लाभ उठाने में समर्थ होते है।

इसी संदर्भ में इस श्लोक को समझे तो प्रकृति की ये जो फलदायिनी शक्तियां हैं, ये ही देवता हैं जो हमें पुष्ट करते हैं। लेकिन हमें पहले उन्हें पुष्ट करना होगा- परस्पर सहयोग कर, निजी स्वार्थ को त्याग कर, सबके हित की बात सोच कर तथा अपना यथाशक्ति योगदान दे कर। तब ही देवताओं से हमारी आवश्यकताओं की पूर्ति होगी, और चूंकि इसमें सबका योगदान और सबकी भागीदारी होगी, इसलिए विषमता का जन्म नहीं होगा। कल्याण सबका होगा, एक व्यक्ति दूसरे के शोषण पर अमीर नहीं होगा। इस प्रकार परस्पर पुष्टि और यज्ञ भावना ही गीता द्वारा बताया गया सोशलिज्म है। भगवान आगे कहते हैं-

इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेन एव सः।।१२।।

देवता गण यज्ञ से पुष्ट हो कर तुम लोगों को अभीष्ट भोग देंगे (दास्यन्ते) इसलिए उनके द्वारा दिए गए भोगों को उन्हें बिना दिए जो भोग करता है वह चोर ही है।

मनुष्य जब व्यक्तिगत स्वार्थ की परिधि से बाहर निकल कर सबके

सहयोग से काम करेगा तब उसके कर्म यज्ञ कहलाएंगे, और प्रकृति की फलदायिनी शक्तियों को उसके आगे झुकना ही होगा। इसमें देवता के खुश होने न होने की बात नहीं। ऐसा नहीं कि किसी पहले की घटना की नाराजगी की वजह से प्रकृति किसी कार्य विशेष का फल न दे। जैसे यदि हमने किसी जीव की हत्या कभी की हो और आज हम एक पेड़ लगाकर उसका पोषण कर रहे हैं तो उस जीव की हत्या की नाराजगी वश पेड़ हमें फल न दे ऐसा हो ही नहीं सकता। प्रजापति ने जब सृष्टि के आरंभ में यह नियम बनाया था कि यज्ञ भावना से कार्य करने पर अभीष्ट फल की प्राप्ति होगी उसी समय दूसरा नियम यह भी बना दिया था कि यदि कर्म ठीक होंगे तो प्रकृति की फलदायिनी शक्तियों (देवी-देवताओं) को फल देना ही होगा।

फिर भी हम देखते हैं कि बहुत बार हमें मिल कर किए गए कर्मों का भी सुफल नहीं मिलता। इसका कारण यह है कि कर्म तो अवश्य सामूहिक होते हैं, लेकिन भावना हमारी सब कुछ स्वयं हड़पने की होती है और भगवान श्रीकृष्ण इस श्लोक में इस भावना की कटु निन्दा करते हुए इसे चोरी बता रहे हैं। अर्थात् यज्ञ के लिए जो चौथी बात बताई गई थी- परस्पर एक दूसरे का पोषण, वह अत्यन्त आवश्यक है, इसके बिना यज्ञ अधूरा है। जिस प्रकार चोर धन इकट्ठा कर लेता है फिर भी चैन से उसको भोग नहीं पाता, उसी प्रकार की दशा भी सब कुछ हड़प लेने की भावना के कारण आज मनुष्य की हो रही है। उसने सुख-सुविधा के साधन जुटा तो बहुत लिए हैं, पर इसे चैन से भोग कहां पा रहा है? उसे शांति कहां मिल पा रही है?

अब देखते हैं कि इस यज्ञ की पूर्णाहुति कैसे हो :-

यज्ञ शिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

यज्ञ का अवशिष्ट खाने वाले संत जन समस्त पापों से मुक्त हो जाते हैं, किंतु जो केवल अपने लिए पकाते हैं वे पापीजन तो पाप ही खाते हैं।

यज्ञ (अग्नि होत्र) करने की परम्परा भी यही है कि उसकी समाप्ति

के बाद प्रसाद वितरण किया जाता है। गीता में बताए गए कर्म यज्ञ की परम्परा भी यही है कि इसके फलस्वरूप जो भी मिले उसका वितरण सबको किया जाए चाहे किसी ने अपना योगदान दिया हो या नहीं, कम दिया हो या अधिक। वितरण के बाद ही स्वयं उस फल को भोगने की मानसिकता रखने वाला व्यक्ति संत है जो समस्त पापों से मुक्त हो जाता है, अर्थात् उसके हृदय में किसी प्रकार का क्षोभ, बेचैनी या आत्मग्लानि नहीं रहती और न ही भविष्य के लिए नवीन वासना उदित होती है, लेकिन आज मनुष्य की स्थिति यह है कि वह समझता है- काम तो सबसे करा लें, सहयोग सबका ले लें और फल सारा स्वयं रख ले। या सहयोग भले कोई दे या न दे पर फल में से हिस्सा तो किसी भी हालत में न मांगे। जो इनसे जरा बेहतर है वे सहयोग करने वाले को तो कुछ हेरा फेरी के साथ पार्टनरशिप दे देंगे लेकिन जिसने कुछ किया ही नहीं उसे कुछ देने की बात तो निरी मूर्खता समझते हैं।

लेकिन भगवान का मत भिन्न है। वे अपने ही लाभ के लिए कर्म करने वाले को बुद्धिमान और व्यवहारिक न कह कर पापी कहते हैं- ऐसा पापी जो पाप ही खाता है, यानि उसका वर्तमान कर्म तो पाप है ही, पर वहीं समाप्त नहीं हो जाता, उसकी शृंखला चलती रहती है। पाप के भोग के फलस्वरूप वह और अधिकाधिक पापी बनता जाता है।

इस प्रकार यज्ञ की सम्पूर्ण विद्या का सार निम्नलिखित है:-

१. स्वार्थ एवं अहंकार का त्याग

२. परस्पर सहयोग

३. यथाशक्ति योगदान

४. जिसने सहयोग दिया उसका पोषण

५. जिसने कुछ भी सहयोग नहीं दिया उसे भी फल का वितरण।

यदि हमारे सामाजिक कृत्यों में ये सारी बातें लागू हो जाएं तो धरती पर किसी को भी किसी वस्तु की भी कमी नहीं रहेगी यह गीता का उद्घोष है।

कुछ विद्वान यज्ञ का अर्थ हिन्दुओं में प्रचलित पंच महायज्ञ अर्थात् पितरों का तर्पण, शास्त्रों का अध्ययन, पकाए गए अन्न में से कीड़े मकोड़ों

के लिए वितरण, अतिथि सत्कार तथा हवन करने से लेते हैं। लेकिन इन पांचों यज्ञों को करने से पांच प्रकार के पापों से ही छुटकारा मिलता है जब कि यहां भगवान कहते हैं- **मुच्यन्ते सर्व किल्बिषैः**- सभी पापों से मुक्ति मिल जाएगी। अतः यज्ञ का अर्थ सबके हित के लिए परस्पर सहयोग के साथ किए गए कर्म ही लेना उचित है।

इस प्रकार भगवान ने अर्जुन के माध्यम से हमको बताया है कि व्यापक यज्ञ के द्वारा जगत की सूक्ष्म शक्तियों का उद्‌बोधन कर हम अपना और जगत का भी कल्याण कर सकते हैं। अब वे कहते हैं, 'अर्जुन मैं तुम्हें कोरा उपदेश नहीं दे रहा, देख यह सारा विश्व एक विराट यज्ञ चक्र द्वारा चल रहा है।

अन्नाद्‌भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसंभवः।
यज्ञाद्‌भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्‌भवः।।१४।।

(भूत) प्राणी अन्न से उत्पन्न होते हैं, अन्न मेघ से उत्पन्न होता है, मेघ यज्ञ से होता है और यज्ञ की उत्पति कर्म से होती है।

कर्म ब्रह्मोद्‌भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्‌भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

कर्म को ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ जानो और ब्रह्मा को अक्षर से। इसलिए सर्वव्यापी ब्रह्म नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

इन दोनों श्लोकों का साधारणतया शाब्दिक अर्थ ले लिया जाता है- अन्न वर्षा से उपजेगा, वर्षा नहीं होती तो यज्ञ करो। यज्ञ में आहुति पड़ेगी तो इन्द्रदेव प्रसन्न होंगे और वृष्टि करेंगे। अतः यज्ञ करना चाहिए। लेकिन विचार करके देखें तो भगवान कृष्ण आरंभ से ही अग्निहोत्र नामक यज्ञ की बात कह ही नहीं रहे हैं। पहले तो हमने देखा कि युद्धभूमि में यज्ञ भावना का उपदेश दे रहे हैं इसका मतलब यज्ञ का अर्थ अग्निहोत्र नहीं हो सकता, यज्ञ का सही अर्थ निकला- सामूहिक कर्म, जो सबके हित के लिए मिलजुल कर किया जाय। वास्तव में गीता किसी साधारण अध्यापक द्वारा माध्यमिक

विद्यालय के छात्र को बताई गई बातें नहीं है। गुरु शिष्य दोनों ही अत्यंत प्रबुद्ध हैं, अत: उनकी भाषा आम भाषा से अलग होनी स्वाभाविक है। जैसे कि डाक्टर जब रोगी को उसके रोग के विषय में बताता है तो उसकी भाषा बोलचाल की, साधारण होती है पर जब एक डाक्टर, दूसरे डाक्टर के साथ बात करता है तो उनकी भाषा बदल जाती है। यहां भी अन्न की उत्पति मेघ से, मेघ की उत्पति यज्ञ से और यज्ञ की उत्पति कर्म से, इस बात का शाब्दिक अर्थ न लेकर हम इसके लाक्षणिक अर्थ को देखें क्योंकि यदि ऐसा नहीं करेंगे तो पहली पंक्ति जितनी वैज्ञानिक लगती है, दूसरी अर्थात् 'मेघ की उत्पत्ति यज्ञ से' यह बात पहली के साथ जमती नहीं।

अन्न का लाक्षणिक अर्थ है हमारे जीवन के लिए उपयोगी एवं आवश्यक वस्तुएं- वे वस्तुएं जिनका हम उत्पादन करते हैं। वर्षा का लाक्षणिक अर्थ है उत्पादन के लिए अनुकूल वातावरण। जैसे सब कुछ हो पर वर्षा न हो तो किसान की मेहनत काम नहीं आती, उसी प्रकार हमारे पास सब प्रकार की खनिज सम्पदा, मानव बल, बुद्धि, होते हुए भी हमारा उत्पादन घटिया या कम होता है। क्योंकि हमारे कारखानों और आफिसों में काम करने का माहौल ही नहीं है। किसी को अपने काम में रुचि ही नहीं होती, हर जगह team spirit का अभाव है, जो उत्पादन के लिए आवश्यक वातावरण बनाता है और यह वातावरण सामूहिक मेल जोल से ही संभव है। एक आदमी तो काम लगन से करना चाहे तो भी नहीं कर सकता। अंग्रेजों ने सामूहिक शिक्षा पद्धति इस प्रकार की बनायी ही थी कि भारत के कालेज केवल क्लर्क तैयार करें जिनमें आगे बढ़ने की चाह और प्रतिस्पर्द्धा की भावना का अभाव हो। इसी का नतीजा आज हम देख रहे हैं। किन्तु सब मिल कर आज भी अपनी इस दुर्दशा के लिए अंग्रेजों को जिम्मेदार ठहराते हुए चाय की चुस्कियां लेते रहते हैं और मामला खत्म! देश इसी प्रकार चलता चला आ रहा है, अत: अनुकूल माहौल तैयार करना है तो सबको सोचना तथा अपने अपने स्तर पर कुछ करना होगा। यही अर्थ इस पंक्ति का है कि वर्षा यज्ञ से होती है। हम सबको मिल-जुल कर, एक होकर राष्ट्र के हित में काम करना होगा, अपने सोचने का तरीका बदलना होगा, अपने स्वार्थ और अहंकार का त्याग करना होगा, तब हमारे देश में भरपूर फसल होगी, भरपूर उत्पादन होगा, हम सभी उन्नत होंगे। आज तो हालत यह है कि भारत के अलग-अलग राज्य नदियों

के पानी के लिए लड़ते हैं, मानों भारत कुछ और है और कर्नाटक कुछ और। इसके कारण देश को कितनी हानि उठानी पड़ रही है, कितनी नहरें बन नहीं पा रहीं, कितनी धरती को पानी नहीं मिल रहा। अत: उत्पादन के लिए यज्ञ भावना या team Spirit चाहिए और यज्ञ भावना केवल चाहने से नहीं आती, विचारों से भी नहीं आती, सम्मेलन बुलाने, सेमिनार करने या पैसे से सहायता करने से भी नही आती, इसके लिए तो कर्म करना आवश्यक है। पैसे की सहायता पाकर कोई co-operative society बन भी जाए तो तब तक नहीं चलती जब तक कि कोई समर्पित कार्यकर्ता न हो। इसी बात को भगवान ने इन शब्दों में कहा है-'यज्ञ: कर्म समुद्भव:' अर्थात् यज्ञ की उत्पति कर्म से होती है।

अब अगले श्लोक में भगवान इसी चक्र को आगे घुमाते हैं-'कर्म ब्रह्मोद्भवम् विद्धि' अर्थात् कर्म को ब्रह्मा से उत्पन्न हुआ जानो। ब्रह्मा यानि इस सम्पूर्ण जगत के रचयिता जिन्होंने दृश्य बनाए हैं, उन्हें देखने के लिए आंखें बनाई है, देखे गए दृश्य को समझने के लिए मस्तिष्क की रचना भी उन्होंने की है और उसके अनुसार कर्म करने की क्षमता, शक्ति भी उन्हीं ने दी है। यह शक्ति हम सभी को दी गई है, हमें जन्म से ही मिली है, बाद में अच्छे संस्कारों या शिक्षा से उसकी गुणवत्ता अच्छी हो सकती है, उसमें कौशल अधिक आ सकता है, लेकिन कर्म की क्षमता हमें ईश्वर से ही मिली है।

ईश्वर अविनाशी परमात्मा का ही स्वरूप है। इस प्रकार यज्ञ कर्म से, कर्म ईश्वर से और ईश्वर परमात्मा से इस चक्र के रूप में जुड़ा हुआ है। अत: जहां यज्ञ है, वहीं परमात्मा का वास है। श्री कृष्ण के क्रांतिकारी विचार है कि जहां भी बहुत से लोग मिल-जुल कर नि:स्वार्थ कर्म करते हैं, वहां परमात्मा का वास होता है। हमें भगवान को ढूंढना है तो मंदिर जाने की जरूरत नहीं, उसे अपने घर में, अपने आफिस में, अपने कार्यक्षेत्र में स्थान दें, और यह स्थान वह तभी ग्रहण करेगा जब हम स्वार्थ और अहंकार को त्याग कर सामूहिक हित के लिए कर्म करेंगे। वह कर्म ही हमारी पूजा है, वह कारखाना ही भगवान का मंदिर है।

बहुत से लोग होते हैं जो रात-दिन काम में डूबे रहते हैं, फाइलों

से सर उठाकर अपने बच्चे तक को नहीं देखते और बहुत गर्व से कहते हैं- 'हम तो कर्म योगी हैं।' भगवान की पूजा-भजन आदि तो उन्हें एकदम बकवास लगता है, वे कहते हैं- 'कर्म ही पूजा है' (Work is worship) उनके कर्म पूजा अवश्य होते हैं, लेकिन पेट की पूजा होते हैं, परमात्मा की नहीं, क्योंकि उनकी सारी गतिविधियां अपने धन को बढ़ाने, अपने यश को बढ़ाने, अपने अहं को फुलाने के लिए होती है, इसके लिए वे अपने माता, पिता, पत्नी, बच्चों के हित तक को नहीं देख सकते, देश, राष्ट्र और विश्वहित तो बहुत दूर की बात है। उन्हें बस नम्बर वन होना है। वे ही लोग यदि अपनी कर्मठता के साथ-साथ अपनी दुकान, आफिस या कारखाने में अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के साथ प्रेम रखें, उनके हित का भी ध्यान रखें ताकि काम उन्हें नौकरी मात्र न लगे, तो उनमें भी परस्पर सहयोगरूपी यज्ञ भावना आएगी। तब देवता भी सृष्टिकर्ता के विधान के अनुसार मनवांछित फल देने को बाध्य होंगे और स्वयं भगवान भी वहां निवास करेंगे।

जो ऐसा नहीं करते उनके बारे में भगवान कहते हैं-

एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

जो इस चलते चक्र के अनुसार नहीं चलता और विषयों में विचरण करता हुआ पाप कर्म करता है, हे पार्थ, उसका जीवन व्यर्थ है।

परमात्मा से ब्रह्मा, ब्रह्मा से कर्म, कर्म से यज्ञ, यज्ञ से उत्पादन का वातावरण, उत्पादन से अन्न और अन्न से प्राणी का जीवन- यह परमात्मा द्वारा चलाया गया चक्र है। हमें इसके अनुसार चलना होगा तभी हम जीवन में समृद्धि के साथ-साथ सुख भी पा सकते हैं।

लेकिन हम चक्र के अनुसार नहीं चलना चाहते वरन् चक्र को अपने ढ़ंग से चलाना चाहते हैं। उत्पादन से अन्न, अन्न से मेरा जीवन यह अंतिम भाग तो ठीक लेकिन उसके पहले यज्ञ वाली बात नहीं मानना चाहते। यज्ञ में तो मिलकर काम होता है अर्थात् हमें दूसरे से काम कराना है और हमें

भी दूसरों के लिए काम करना है- बस सारी गड़बड़ इसी बात पर है। हम समझते हैं कि हम अधिक व्यवहारिक और सफल तब होंगे जब हम तो दूसरों का फायदा अधिक से अधिक उठा लें और स्वयं कम से कम धन खर्च करें। अपना सारा धन अपने ही भोग में व्यय करें। ऐसा व्यक्ति अपने को भले बहुत उस्ताद समझ ले, वास्तव में वह मूर्ख है। उसे लगता है कि उसने बड़ी-बड़ी उपलब्धियां हासिल कर लीं- बहुत बड़ा घर बना लिया- क्या गौरव है इसमें? घर तो छोटी-छोटी चिड़ियां भी बनाती हैं- बेटा हुआ- अरे! बच्चे तो एक कोशकीय प्राणी भी पैदा भी करते हैं- इसमें घमंड की क्या बात! ये बेटों पर इतराने वाले, महलों में रहने वाले अपने को कितना सुखी मानते हैं इसपर विचार कीजिए। इस चक्र के अनुसार न चलने पर समृद्धि आ भी जाती है तो सुख, आनंद, प्रसाद नहीं आता। वास्तविक गौरव तो समत्व की प्राप्ति है। यही योग है जो हमें अपने सच्चिदानंद स्वरूप से मिलाता है जहां किंचित मात्र भी दु:ख और तनाव नहीं। इसी को प्राप्त करना ही जीवन को सफलतापूर्वक जीना है और इसकी कुंजी है यज्ञ- कर्म योग।

कर्म योग रूपी यज्ञ के विषय में इतना कुछ सुनकर अर्जुन के मन में यह प्रश्न उठ सकता था कि जो यज्ञ चक्र भगवान बता रहे हैं उसका पालन क्या सभी को करना आवश्यक है? भगवान अगले श्लोक में बता रहे हैं कि इसके अपवाद कौन हैं। कौन ऐसे हैं जो कर्म न भी करें तो भी चोर नहीं कहलाएंगे, जिनका जीवन व्यर्थ नहीं कहा जाएगा।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानव:।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

परन्तु जो व्यक्ति आत्मतत्व में ही रहने वाला है और आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट है उसका कोई कर्त्तव्य नहीं है।

धर्म की, शास्त्रों की बारीकियों को न समझने वाले या समझकर भी उसे अपने स्वार्थ के लिए इस्तेमाल करने वाले लोग तथ्यों को तोड़ मरोड़ देते हैं और धर्म, उत्थान का आह्वान करने के बजाए तमोगुण के गर्त में डुबो देने वाला बन जाता है। ऐसी ही एक बात यह है कि ज्ञाननिष्ठ के लिए कर्म

की बाध्यता नहीं। इसकी आड़ में अनेकों व्यक्ति साधु का बाना पहन कर्म को त्याग देते हैं या कर्म त्याग कर साधु होने का दिखावा करते हैं, लेकिन कर्म का त्याग ज्ञानी नहीं आलसी और प्रमादी की पहचान है। ज्ञान प्राप्ति के बाद कर्म करने न करने की बाध्यता नहीं रह जाती पर यह ज्ञानी का लक्षण नहीं है। यहां भगवान ज्ञानी के लक्षण बताते हैं- आत्म रति, आत्म तृप्ति, आत्म संतुष्टि। ऐसे लक्षणों वाला व्यक्ति ही कर्म का त्याग कर सकता है क्योंकि वह अपने आप में पूर्णता का अनुभव करता है। उसे जीवन में कुछ पाना शेष नहीं है, उसे किसी से कुछ लेना नहीं, न वह किसी को कुछ देने की बाध्यता का अनुभव करता है। भगवान कहते हैं-

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

उस ज्ञाननिष्ठ व्यक्ति का इस संसार में न तो कुछ करने से प्रयोजन है और न ही न करने से। इस मनुष्य के लिए समस्त प्राणियों में कोई प्रयोजन सिद्धि के लिए आश्रय करने योग्य नहीं अर्थात् उसे किसी से कोई लेना-देना नहीं है।

संसार के समस्त प्राणियों की समस्त क्रियाएं दो ही प्रयोजन से होती है- दुःख निवृत्ति और सुख प्राप्ति। हमें कोई वस्तु या व्यक्ति दुखदायी जान पड़ते हैं तब हम उन्हे दूर करने का प्रयत्न करते हैं और किसी से सुख की आशा होती है उसे पाने की कोशिश करते हैं, लेकिन जो आत्म तृप्त, आत्म रत, आत्म संतुष्ट है उसे तो किसी दूसरे व्यक्ति या वस्तु में सुख नजर आता नहीं, न ही उसे किसी प्रकार का दुःख है, फिर उसके कर्म का प्रयोजन ही कहां? उसके लिए न कोई अपना है, न कोई पराया, अतः उसके लिए कोई कर्त्तव्य ही शेष नहीं रह जाता। एक बार फिर याद कर लेना चाहिए कि कर्त्तव्य को पहले त्यागकर इस अवस्था तक पहुंचना संभव नहीं। अर्जुन अभी आत्म रत, आत्म तृप्त और आत्म संतुष्ट नहीं है, वह तो युद्ध के दुःख से निवृत्त होने की इच्छा से कर्त्तव्य कर्म से च्युत होना चाहता है, इसलिए भगवान कहते हैं-

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

इसलिए तू अनासक्त होकर सदैव अपने कर्त्तव्य कर्म सुचारु रूप से करता रह क्योंकि आसक्ति छोड़कर कर्म करता हुआ मनुष्य परम पद को पा लेता है।

अर्जुन ने पूछा था-'मेरे लिए कल्याण का मार्ग कौन सा है, यह स्पष्ट बताइये। यहां अर्जुन के प्रश्न का स्पष्ट उत्तर भी है तथा साधना के पथ पर चलने वालों के लिए निर्देश भी।

भगवान ने स्पष्ट कह दिया है कि कर्म न करने का अधिकारी तो केवल वही है जिसने परम पद को प्राप्त कर लिया है, तुम्हारे जैसे व्यक्ति नहीं। अब तक तो तुमने धन और अस्त्र-शस्त्र ही एकत्र किए हैं और युद्ध को अपना क्षात्र कर्त्तव्य समझा है। तुम्हारे लिए तो अभी की स्थिति में कर्म करना ही कल्याणकारी है, लेकिन यह कर्म तुम अधिक आसक्ति छोड़कर केवल कर्त्तव्य भाव से करो। ऐसा सतत् करते रहने से धीरे-धीरे तुम उसे परमपद को प्राप्त कर लोगे जो जीवन्मुक्त की अवस्था है, जहां न कर्म करने की बाध्यता है, न कर्म न करने की। यदि बाध्यता ही रही तो मुक्ति कहां हुई?

हम भी अर्जुन की भांति अब तक संसार में रत हैं, यदि हमें उस उच्चतम अवस्था तक पहुंचने की चाह है तो हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि संसार से मुंह मोड़ना या अपने कर्त्तव्य से भाग कर हिमालय पहुंच जाना साधना की सही राह नहीं है। भगवान का स्पष्ट मत है कि हम जिस स्थिति में हैं उसी में अपने कर्म के प्रति दृष्टिकोण बदले, ममता आसक्ति और सुख-दुख की चाह को त्यागने का प्रयत्न करें। फल की आशा छोड़ें। तब धीरे-धीरे आत्मरति, आत्मतृप्ति और आत्मसंतुष्टि की अवस्था को प्राप्त कर पायेंगे।

तब क्या हम कर्म छोड़ देंगे? भगवान ने पहले कह तो दिया है कि ऐसे व्यक्ति के लिए कोई कर्तव्य कर्म शेष नहीं रह जाता लेकिन फिर भी वकालत वे कर्म करने की ही कहते हैं। उनका कहना है-

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।२०।।

जनक आदि कर्म के द्वारा ही सिद्धावस्था को प्राप्त हुए हैं। लोकसंग्रह को देखते हुए भी तुम कर्म ही करने के योग्य हो।

अर्जुन को अनासक्त होकर कर्म करने की बात अव्यवहारिक न लगे इस लिए भगवान अपनी बात की पुष्टि के लिए राजा जनक का उदाहरण देते हैं जो विदेह कहे जाते थे फिर भी संसार में रह कर सतत् कार्य करते रहे। यही नहीं सिद्धावस्था, विदेह अवस्था भी उन्होंने कर्म के द्वारा ही प्राप्त की थी हिमालय की कन्दराओं में तपस्या करके नहीं। राजा जनक की अनासक्ति के विषय में एक कथा है कि एक सिद्ध मुनि मिथिला नगर के पास वन में प्रवचन करते थे जिसे सुनने राजा जनक भी आते थे, आस-पास के साधक, साधु आदि भी आया करते थे। एक दिन राजा जनक को आने में देर हो गई तो मुनि ने अपना प्रवचन स्थगित कर दिया और उनके आने के बाद ही आरंभ किया। इससे अन्य साधुओं के मन में शंका उत्पन्न हो गई कि मुनि ने ऐसा इसलिए किया कि जनक तो राजा हैं और वे लोग साधारण व्यक्ति। मुनि को यह बात पता लग गई। साधुओं को तथ्य का ज्ञान कराने के लिए दूसरे दिन उन्होंने योगबल से चारों और आग लगा दी। सब साधुओं को चिंता लग गई कि झोपड़ी में जो लंगोटी सूख रही है वह जल जाएगी तो कल क्या पहनेंगे। वे एक-एक कर खिसकने लगे लेकिन राजा जनक उसी प्रकार दत्तचित्त होकर प्रवचन सुनते रहे। साधु जब अपनी झोपड़ी में पहुंचे तो अचानक आग लुप्त हो गई। तब मुनि ने उन्हें बताया कि राजा जनक की महत्ता राजा होने में नही बल्कि अनासक्त होने में है, इसीलिए राजा जनक के लिए उन्होंने प्रवचन स्थगित किया था।

राजा जनक के उदाहरण के बाद कर्म की वकालत करते हुए अगली दलील देते हुए भगवान कहते हैं कि अर्जुन, लोक संग्रह को नजर में रखते हुए भी तुम्हारे लिए कर्म करना ही श्रेष्ठ है। लोक संग्रह का अर्थ है लोगों को संग्रहित रखना अर्थात् एकजुट रखना, समाज का एकीकरण करना। यदि अर्जुन रण से भाग जाता तो उसके पीछे उसके चारों भाई हो लेते। तब युद्ध

में एकत्रित हुए सारे राजा अपने-अपने घर चले जाते, कोई युद्ध का नेतृत्व करने वाला ही नहीं रहता और कौरव बिना एक भी तीर चलाए युद्ध के विजेता बन जाते। लोगों की धर्म, न्याय और भलाई में आस्था ही खत्म हो जाती। समाज के इस बिखराव के लिए जिम्मेवार अर्जुन ही होता अत: इस दृष्टिकोण से भी उसे अपना क्षात्रधार्म तथा राजधर्म का पालन करने के लिए युद्ध करना ही उचित था। नेता एक व्यक्ति से भिन्न होता है। एक साधारण व्यक्ति द्वारा किए गए कर्म का प्रभाव तो केवल उस पर ही पड़ा है लेकिन श्रेष्ठ व्यक्ति द्वारा किए गए आचरण का प्रभाव पूरे समाज पर पड़ता है।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।२१।।

श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं वही अन्य यानि साधारण जन भी करते हैं। वह जो भी करके प्रमाणित करता है लोग उसी के अनुसार वर्तन करते हैं।

पिछले श्लोक में भगवान लोकसंग्रह अर्थात् सबको साथ लेकर चलने के लिए कर्म की अनिवार्यता बता रहे थे और उसी की मीमांसा इस श्लोक में की गई है। जिनके कंधों पर समाज को एकीकृत करने की, उसे राह दिखाने की जिम्मेवारी है वे यदि भाषण देकर उन्हें प्रभावित करने की कोशिश करें तो उससे कुछ नहीं होगा। लोग आचरण देखतें हैं, शब्द नहीं। जैसा आचरण वे करते हैं, वैसा भी अन्य जन भी करते हैं। साधाारण लोग व्यवहार को प्रमाण मानते हैं, वचनों को नहीं। लोग अनुकरणशील होते हैं, वे जिनपर श्रद्धा करते हैं उनका अनुकरण करने का प्रयास करते हैं, उनकी क्रियाओं से प्रेरणा ग्रहण करते हैं। ज्ञानी जन यदि त्याग का उपदेश देते रहें और स्वयं भोग में लिप्त रहें तो उस उपदेश का किसी पर असर नहीं पड़ेगा। इसी प्रकार यदि वे कर्म का त्याग कर दे तो सभी कर्म त्याग के लिए प्रस्तुत हो जाएंगे।

गीता के प्रस्तुत श्लोक का आज के संदर्भ में चिंतन करना बहुत आवश्यक है। आज यही हो रहा है, लोग घर छोड़, कर्तव्य छोड़, साधु पहले बन जाते हैं, ज्ञान पाने का प्रयत्न बाद में करते हैं या नहीं भी करते हैं तथा

भिक्षाटन पर निर्वाह कर समाज पर बोझ बनते हैं। जो तत्व ज्ञानी हैं, वे धर्म के स्तम्भ हैं, अपने ज्ञान के द्वारा लोगों का भला कर रहे हैं तथा धर्म, नेकी और ज्ञान की मशाल प्रज्ज्वलित रखे हुए हैं, यह उनका बहुत बड़ा योगदान है समाज के लिए। अत: समाज उनका ऋणी है। समाज श्रद्धापूर्वक ऐसे संतों की व्यवस्था करता है। ऐसे पुरुषों के लिए कर्तव्यता शेष नहीं रही लेकिन यह श्लोक कहता है कि ऐसे ज्ञानी आत्माराम पुरुषों को भी कर्म करना चाहिए- कर्तव्य के लिए न सही, लोक संग्रह के लिए। समाज और बातों का अनुकरण करे न करे, व्यवहार का अनुकरण पहले करता है।

हमारे देश में महात्मा गांधी जैसे नेता हुए जिनकी सत्य, अहिंसा, सादगी आदि गुणों में आस्था भी थी और इन्हें व्यवहार में भी उतारा था। अत: देश की करोड़ों जनता के जीवन में भी ये आदर्श उतरे और देश को बल मिला। लेकिन आज के नेताओं के लिए देश प्रेम, नैतिकता आदि केवल भाषणों में है, व्यवहार में नहीं और आम जनता भी इन बातों को सुनती भर है। जीवन में वही भ्रष्टाचार, वही अनैतिकता उतर रही है जो हम अपने नेताओं के जीवन में देख रहे हैं। इस पर प्रश्न उठ सकता है कि समाज को सुधाारना होगा तो इन नेताओं को सुधारने की जरूरत है हमारे अकेले के सुधरने से क्या होगा। हर व्यक्ति चाहता है कि दूसरे व्यक्ति सुधरें, उसका फल उसे मिले, तब शायद वह भी सुधारने की सोच सकता है। ''हमारे अकेले के करने से क्या होगा'' कहते वक्त हर व्यक्ति को सोच लेना चाहिए कि अपना-अपना सबका छोटा-छोटा समाज होता है जिसके लोग उसका अनुकरण करते हैं, उसकी ओर ताकते हैं। व्यक्ति जितना बड़ा होता है उतना ही बड़ा उसका समाज होता है, उतनी ही गंभीर उसकी जिम्मेदारी होती है लेकिन यह बात कहकर साधाारण व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी से बच नहीं सकता। हर व्यक्ति चाहता है कि उसके बच्चे गलत काम न करें। स्वयं सिगरेट, शराब पीने वाले यदि अपने बच्चों को पीने के लिए मना करें तो कौन उनकी सुनेगा? अत: यह आवश्यक है कि हम उन गुणों को स्वयं अपने जीवन में उतारें जिन्हें हम दूसरों में देखना चाहते हैं।

अत: यहां पर भगवान श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि तुझे अपने लिए कर्म करना आवश्यक प्रतीत न भी होता हो तो भी लोकसंग्रह के लिए तू कर्म कर। लोग तुझसे सीखें कि धर्म की रक्षा के लिए कैसे युद्ध किया

जाता है। अन्यायी भले ही अपना संबंधी क्यों न हो, दण्डकर्त्ता के लिए वह अन्यायी ही है, दण्डनीय ही है।

इतना कहनेपर भी अर्जुन में कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई तो भगवान कहते हैं- अर्जुन मुझे देख-

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।२२।।

हे पार्थ, तीनों लोको में मेरा कुछ भी कर्तव्य नहीं है, क्योंकि न तो मुझे कुछ अप्राप्त है न कुछ प्राप्त करना है, फिर भी मैं कर्म में ही लगा रहता हूं।

पहले भी कहा जा चुका है कि मनुष्य के कर्म सुख प्राप्ति या दु:ख निवृत्ति के लिए होते हैं। जब हमें लगता है कि फलां वस्तु के बिना मेरे सुख में पूर्णता नहीं आएगी तब हम उसे प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। हमारे सब प्रयत्न पूर्णता के लिए होते हैं। इसीलिए आत्मसंतुष्ट आत्माराम के लिए कर्म की बाध्यता नहीं होती। श्रीकृष्ण पूर्ण काम, पूर्ण पुरुष हैं। वे कहते हैं कि तीनों लोकों में ऐसा कुछ भी नहीं है जिसके लिए उन्हें कर्म की बाध्यता हो और यह उनकी गर्वोक्ति नहीं। उनके जीवन में हम सर्वत्र इस बात का दर्शन करते हैं।

जीवन का कोई आयाम कृष्ण से अछूता नहीं। वैसे तो भगवान के सभी रूप पूर्ण ही होंगे लेकिन श्रीकृष्ण की लीलाओं में यह तथ्य अधिक मुखर है। स्वयं राम के पास उपवन है पर मधुवन नहीं। शिव के पास समाधि है, ताण्डव है लेकिन उल्लास और रास नहीं। ईसा के पास सलीब है, बांसुरी नहीं, हृदय में प्रेम है, पर उच्छल आनन्द नहीं। मुहम्मद के जीवन में यातना है, कुर्बानी है, लेकिन झूले का सुख नहीं है। बुद्ध करुणा की मूर्ति हैं लेकिन ऐसा नहीं लगता कि किसी बात पर खिलखिलाकर हंस पड़ेंगे। महाभारत की युद्ध भूमि में कृष्ण के अधरों पर स्मित हास्य इस बात की पुष्टि करता है कि आनन्द के लिए उन्हें किसी वस्तु या स्थिति की अपेक्षा नहीं है।

पूर्णता को हम अनन्त भी कह सकते हैं। पूर्ण या अनन्त से कुछ भी निकाल दिया जाय, वह अनन्त ही रहता है। कृष्ण भी अपने जीवन में सबमें पूरी तरह बंटकर भी पूरी तरह बचे रहते हैं। वे ब्रज जनों के लाला हैं, गोपियों के लिए कन्हाई, मथुरा वासियों के लए वासुदेव, अर्जुन के सखा, अपनी रानियों के आदर्श पति। व्रज वासियों को लाला के बिना जीवन अधूरा लग सकता है लेकिन कृष्ण का जीवन किसी के बिना अधूरा नहीं। वे लाला या कान्हा तभी तक हैं जब तक ब्रज में हैं, वहां से जाने के बाद वंशी अधरों पर कभी नहीं लगाते। ब्रज में रास रचाते कृष्ण एक क्षण में ब्रज त्याग कर मथुरा चले जाते हैं, मथुरा त्याग कर द्वारिका जाते समय उन्हें कोई मोह नहीं व्याप्त होता, द्वारिका में सम्पूर्ण संचालन देखते हुए भी झट से उसे छोड़ हस्तिनापुर जाने पर वे द्वारका की याद में डूबे नहीं रहते और उनकी अनासक्ति तो अत्यन्त निर्मम रूप में तब प्रकट होती है जब अपने उच्छृंखल पुत्र पौत्रों की हत्या करने के बाद उन्हें कोई ग्लानि नहीं होती। उन्हें कुछ भी पाना नहीं, कुछ भी छोड़ना नहीं।

इसीलिए श्रीकृष्ण कहते हैं कि तीनों लोकों में ऐसा कुछ भी नहीं जो मुझे मोह, ममता, राग या द्वेष के बंधन में डाल सके। अतः मुझे कुछ करने की आवश्यकता नहीं फिर भी मैं निरंतर कर्म करता रहता हूं। मैं जो कुछ अभी तुम्हें बता रहा हूं, ज्ञान की ये बातें लोग जाने या न जाने, मेरे जीवन की विभिन्न घटनाओं को, उसमें मेरे द्वारा किए गए आचरण को सब देख सुन रहे हैं और उनका ही अनुकरण करेंगे।

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

क्योंकि हे पार्थ यदि मैं कदाचित् निद्रा आलस त्याग कर कर्म में न लगा रहूं तो मनुष्य सब प्रकार से मेरे मार्ग का अनुकरण करेंगे।

अनुकरण करना तो मनुष्य की प्रवृत्ति है ही और यदि आदर्श ऐसा हो कि उसके लिए बहुत मेहनत करनी पड़े, कष्ट उठाना पड़े तो कुछ लोग अनुकरण करेंगे, कुछ नहीं। पर यदि कर्म त्याग कर नींद लेने की बात समझ

में आ जाए तो सभी तैयार हो जाएंगे, शिष्यों की भीड़ लग जाएगी। यदि कुछ प्राप्तव्य न होने के कारण भगवान कर्म का त्याग कर देते तो साधारण जन के पास इतना समझने का न दिल है न दिमाग। वे तो देखादेखी वही करेंगे जो भगवान कर रहे हैं, यानि कर्म का त्याग। क्योंकि भगवान पहले ही बता चुके हैं कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा करते हैं (जैसा सोचते हैं) उसे ही प्रमाण मान कर साधारण जन भी वैसा ही करते हैं।

श्रीकृष्ण ने अवतार लेकर शरीर धारण किया है ताकि वे लोगों को धर्म का पथ दिखा सकें, उस पर चलना सिखा सकें और कर्म त्याग करके धर्म के पथ पर चलना संभव नहीं। अतः एक व्यक्ति के रूप में अवतरित हुए श्रीकृष्ण के लिए कर्म करना लोक संग्रह के लिए अत्यंत आवश्यक है और श्रीकृष्ण के लिए ही नहीं, सभी नेताओं के लिए। क्योंकि जनता नेताओं को ताकती है। सभी नेताओं के लिए ही नहीं, हर व्यक्ति के लिए भी, क्योंकि हर व्यक्ति का अपना-अपना क्षेत्र है, वह क्षेत्र छोटा से भी छोटा हो तो अपना परिवार भी हो सकता है। अपनी संतान के लिए भिखारी भी श्रेष्ठ पुरुष है, उसके बच्चे वही करते हैं, जो अपने पिता को करते देखते हैं।

किंतु श्रीकृष्ण केवल देहधारी देवकी पुत्र ही नहीं, वे पुरुषोत्तम, परब्रह्म हैं और इस रूप में भी उनके लिए कर्म करना आवश्यक है। वे कहते हैं-

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्
संकरस्य कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ।।२४।।

यदि मैं कर्म न करूं तो ये लोग नष्ट हो जाएं, मैं वर्ण संकर का कर्ता होऊं तथा इन प्रजाओं के ध्वंस का कारण बनूं।

हम सभी देखते हैं कि समस्त ब्रह्माण्ड की एक-एक क्रिया पूर्ण रूप से नियमबद्ध है। आकाश में चमकते अगणित तारे एक लय, एक नियम के अनुसार घूम रहे हैं और इसी प्रकार पदार्थ के छोटे से छोटे कण अणु के अंदर भी इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन, न्यूट्रॉन शत प्रतिशत नियमबद्ध हैं। कही भी कोई नियम भंग नहीं किया जाता। कोई भी सितारा या कोई भी अपनी इलेक्ट्रॉन अपनी कक्षा छोड़कर दूसरी में नहीं घूमता। वैज्ञानिक तो इन नियमों की खोज

करते हैं और फिर उनका अगला रिसर्च इस बात पर होता है कि इनका लाभ कैसे उठाया जाय। वे पता लगाते हैं कि इलेक्ट्रॉन को कुछ उर्जा दी जाय तो वह अपनी कक्षा बदल देता है। इस नियम का पता चलते ही वे इसका लाभ उठाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे उपकरण बनाते हैं जो इस नियम के तहत काम कर हमें भौतिक लाभ दे सकें। यह उनका कार्य क्षेत्र है। अध्यात्म का कार्यक्षेत्र नियम से होने वाला लाभ नहीं बल्कि नियम के उद्‌गम, नियंता की खोज है। उसी को वे परमात्मा या ब्रह्मा नाम देते हैं, जो सारी सृष्टि का निर्माण, संचालन और संहार करता है। सारे नियम उसी के बनाए हुए हैं। वह स्वयं इन्हीं नियमों की मर्यादा से अपने आपको बांधे हुए हैं तथा सृष्टि स्थिति संहार का कार्य कर रहा है। यदि एक क्षण के लिए भी वह कार्य करना बंद कर दे अर्थात् प्रकृति के नियम भंग हो जाएं तो सब कुछ अस्त व्यस्त हो जाएगा। देवकी पुत्र कृष्ण के रूप में वे कुछ घंटे नींद तो ले सकते हैं, ब्रह्माण्ड नायक के रूप में तो वे एक क्षण भी विश्राम नहीं कर सकते।

भगवान कहते हैं कि कर्मो का त्याग कर देने से मैं वर्ण संकर का कर्ता होऊंगा और सारी प्रजा नष्ट हो जाएगी। वर्ण व्यवस्था गुण और स्वभाव के अनुरूप की गई है। भगवान ने विभिन्न गुणों सत्व, रजस, तसम के सम्मिश्रण से चार विभिन्न प्रकार के स्वभाव वाले पुरुष बनाए हैं जो अपने-अपने स्वभाव के अनुरूप काम करते हैं। उन्हीं के अनुरूप उनकी वासनाएं हैं। वासना के अनुरूप उनके विचार होते हैं, विचारों के अनुसार उनमें कुछ करने न करने की कामना जागती है और उसी के अनुकूल शरीर कार्य करता है। सब कुछ लय बद्ध है क्योंकि सब परमात्मा के नियमों से बंधे हुए हैं। यदि यह नियम टूट जाए तो मनुष्य के स्वभाव, विचार, कामना और कर्म में तालमेल खत्म हो जाएगा। वह सोचेगा देश के लिए लड़ना, चाहेगा फूल की माला बनाना और कर्म करेगा खर्राटें भरने का। उनका कोई वर्ण, कोई चरित्र, कोई स्वभाव, कोई गुण रह ही नहीं जाएगा। ब्रह्माण्ड में केवल एक ही प्रकार के लोग रह जाएंगे-पागल। इस प्रकार सबके नाश को रोकने के लिए परमात्मा निरंतर कार्यरत हैं।

इस प्रकार कर्म करने की जोरदार वकालत तो भगवान ने की पर प्रश्न यह है कि कर्म किस प्रकार किया जाय? लोकसंग्रह के लिए या यज्ञ

भावना के साथ कर्म करें यह तो ठीक है, लेकिन कैसे, कितना? भगवान कहते हैं-

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

जैसे अविद्वान पुरुष आसक्ति के साथ करता है उसी प्रकार विद्वान पुरुष को अनासक्ति के साथ लोकसंग्रह की इच्छा से कर्म करना चाहिए।

संसार में बहुलता तो ऐसे व्यक्तियों की है जो साधारण बुद्धि रखते हैं, जीवन के परमलक्ष्य पर जिनकी नजर नहीं होती, आत्मतत्व को पहचानने की जिनकी क्षमता नहीं होती, उनके सामने तो जन्म से मृत्यु तक का जीवन होता है बस। इस जीवन यात्रा में उनके साथ कुछ लोग जुड़े होते हैं जिन्हें वह अपना मानता है, उसकी कुछ जरूरतें, कुछ इच्छाएं, कुछ कामनाएं होती है जिनकी पूर्ति के लिए वह कर्म करता है। इस प्रकार उसकी सारी गतिविधियां 'मैं, मेरा, मेरी कामना' के इर्द-गिर्द घूमती हैं। अपनी वस्तुओं और कामनाओं में उसकी आसक्ति होती है, वे इन्हीं में रमे रहना चाहते हैं और इसके लिए पूर्ण निष्ठा के साथ दिन रात प्रयास करते हैं। एक व्यापारी हो या मजदूर, वह यदि दिन में अठारह घंटे काम करता है तो केवल इसलिए कि अपनी कामनाओं की पूर्ति कर सके, अपने परिवार को खुश रख सके।

भगवान का कहना है कि यही उत्साह, यही निरंतरता विद्वान के कर्म में भी बनी रहनी चाहिए। शरीर उत्साह से कर्म करे लेकिन मन और बुद्धि का जगत् बदल जाए। मन में कामनाएं अपने स्वार्थ और अहंकार की पूर्ति की न होकर लोक संग्रह की हो, जगत् के कल्याण की हो, साधारण जन को सही राह दिखाने की ही हो। बुद्धि में आसक्ति न हो। न वह अपने संसार के प्रति आसक्त हो, न अपने कर्म के प्रति न कर्म फल के प्रति। यह अनासक्ति भगवान के जीवन में सर्वत्र दिखाई देती है जब कि ऊपरी तौर पर वे गोपियों, ग्वाल बालों, और पाण्डवों के प्रति अत्यन्त अनुरक्त दिखाई देते हैं। वे एक क्षण को भी नहीं सोचते कि महाभारत का युद्ध हो न हो, मुझे कौन सा व्यक्तिगत हानि लाभ होना है? वे युद्ध की घोषणा के पहले युद्ध रोकने के लिए जितनी

तत्परता दिखाते हैं उतनी ही तत्परता से प्रयास विफल होने के बाद युद्ध की तैयारी करते हैं और अर्जुन का रथ हांकते हैं।

ऊपरी तौर से महात्मा और साधारण जन कर्म करते हुए एक जैसे लगते हैं, दोनों आंधी, पानी, धूप में अपने शरीर की परवाह किए बिना भवन निर्माण में लगे रह सकते हैं पर एक की भावना रहेगी कि इसमें मैं अपने परिवार के साथ सुखपूर्वक रहूं और दूसरे की कामना रहेगी कि इसमें थके हुए, मुसीबत में पड़े पथिक विश्राम करें। केवल यह कामना ही नहीं, उसमें इतनी अनासक्ति भी हो कि भावनात्मक रूप से चिपके नहीं, उसे अपना न माने, अपने कर्म के प्रति कर्तापन का भाव न रखे।

यदि अनासक्ति के साथ निरन्तर कर्म करना विद्वता है और आसक्ति, अहंकार, स्वार्थ के वश में होकर कर्म में चिपके रहना मूर्खता है, तो विद्वान को क्या करना चाहिए- अविद्वानों को रोक दे? उनसे ऐसा करने को मना करे? भगवान कहते हैं-

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मस्ंगिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।२६।।

ज्ञानी को चाहिए कि वह कर्म में आसक्त अज्ञानियों में बुद्धिभेद पैदा न करें, बल्कि विद्वान स्वयं योग में स्थित रह समस्त कर्मों को अच्छी तरह करता हुआ उनको भी कर्म में लगाए रखे।

संसार में तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं:- तामसी तो कुछ करना ही नहीं चाहते। राजसी घोर कर्म में रत रहते हैं, लेकिन अहंकार, स्वार्थ तथा आसक्ति के साथ। सात्विक पुरुष कर्म तो करते रहते हैं पर अनासक्ति, और अनहंकार के साथ। राजसी और सात्विक के कर्मों में अज्ञान और ज्ञान का ही भेद है। अब यदि ज्ञानी अज्ञानी को कह दे, 'यह क्या कर रहे हो तुम, रुक जाओ, छोड़ो इस तरह के कर्म करना,' और वह उसकी बात मानकर सचमुच रुक जाए तो फिर कर्म करने की उसकी आदत ही समाप्त हो जाएगी, वह आगे की सीढ़ी (सत्व) पर चढ़ने के बजाय तमस में पड़ जाएगा और कहीं का भी नहीं रहेगा। अभी कम से कम कुछ कर तो रहा है केवल उसकी

भावना को बदलना है। उसे कर्म से च्युत करना ठीक नहीं रहता। इसीलिए भगवान कहते हैं कि ज्ञानी उनमें बुद्धिभेद पैदा न करें। कभी-कभी ऐसा होता है कि कोई साधु महात्मा किसी गृहस्थ को उपदेश देते हैं कि इस माया-मोह में कब तक भटकोगे, चलो मेरे साथ। यदि उनमें बुद्धिभेद हो गया तो वह एकदम से कर्म छोड़कर चल देगा, लेकिन उसकी आसक्ति तो एकाएक छूटेगी नहीं। वह साधना में एकाग्र हो नहीं पाएगा। बच्चों की याद आयेगी। वहां से परेशान-कुंठित होकर यदि फिर से गृहस्थी में लौटेगा तब घर में खटपट होने पर उसे हिमालय की शांति याद आएगी। इस प्रकार न वह इधर का रहेगा, न उधर का। ज्ञानी के लिए दो बातें चाहिए, कर्म और अनासक्ति। अज्ञानी के पास यदि कर्म है तो कम से कम एक चीज तो है, दूसरी अनासक्ति उसे सिखानी है। कर्म छुड़ाने से तो दोनों ही चीजें छूट जाएगी, अतः ज्ञानी यदि अज्ञानी को ऊपर उठाना चाहता है तो उसे क्या करना चाहिए, वह इस श्लोक की दूसरी पंक्ति में कहा गया है।

ज्ञानी उपदेश द्वारा अज्ञानी की आसक्ति दूर करने का प्रयत्न कर सकता है, उसे 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का पाठ पढ़ाकर, जीवन की क्षणभंगुरता का ज्ञान देकर वैराग्य का उपदेश दे सकता है लेकिन भगवान श्रीकृष्ण का मत इससे भिन्न है। वे तो यह कहते हैं कि ज्ञानी स्वयं अनासक्ति तथा कर्मयोग द्धनिष्काम कर्मऋ में युक्त रहकर अज्ञानियों को भी कर्म में लगाए रखें। यानि उपदेश से नहीं, निष्काम कर्म करके उदाहरण प्रस्तुत करें जिससे वे अपने आप सीखेंगे क्योंकि भगवान पहले ही कह चुके हैं कि श्रेष्ठ पुरुष जैसा आचरण करते हैं वैसा ही साधारण जन भी करते हैं।

ज्ञानी जब अज्ञानियों से घिरा रहकर कार्य करेगा, तब साधारण जन ज्ञानी के सम्पर्क में आएंगे तो धीरे-धीरे उनमें परिवर्तन अपने आप आएगा। कर्म करते हुए ममता, अहंता, कामना के कारण वे तो अशांत हो जाएंगे, तनाव में रहेंगे, कभी खुशी से नाचेंगे, कभी कुंठा से चिड़चिड़एंगे, लेकिन देखेंगे कि ज्ञानी व्यक्ति सदा तनाव मुक्त और प्रसन्न रहता है तो अपने आप उनमें जिज्ञासा होगी। पहले तो यदि उनसे कहा जाता कि स्वार्थ का त्याग करो तो वे सोचते कि इससे तो वे नुकसान में रहेंगे, लोग उन्हें मूर्ख बनाकर सब कुछ हड़प जाएंगे। इससे होने वाला फायदा तो उन्हें समझ आएगा ही नहीं,

वे कहेंगे- 'कर्म करूंगा तो फल भी लूंगा, फल को छोड़ूंगा तो कर्म को भी छोड़ूंगा'। लेकिन इस कर्म फल को छोड़ने का लाभ और गौरव जब उन्हें प्रत्यक्ष दिखाई देगा तब वे स्वत: अनासक्ति का मार्ग पकड़ने को प्रेरित होंगे। ज्ञानी का निरंतर सान्निध्य धीरे-धीरे उनके हृदय में भी ज्ञान का दीपक जलाएगा।

इस श्लोक का विस्तृत व्याख्या भगवान ने अगले तीन श्लोकों में की है। पहले वे अज्ञानी का मनोविज्ञान बताते हैं, फिर ज्ञानी की मानसिकता बताते हुए पुन: उपदेश देते हैं कि ज्ञानी को बुद्धि भेद पैदा कर अज्ञानी को विचलित नहीं करना चाहिए।

प्रकृते: क्रियमाणानि गुणै: कर्माणि सर्वश:।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।२७।।

प्रकृति के गुणों के द्वारा समस्त कर्म सम्पन्न होते हैं। अहंकार से विमूढ हुआ व्यक्ति ऐसा मानता है कि मैं कर्ता हूं।

भगवान इसी अध्याय के पांचवें श्लोक में पहले भी कह चुके हैं, 'न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्य अकर्मकृत कार्यते ह्यवश: कर्म सर्व: प्रकृतिजैर्गुणै:' अर्थात् प्रकृति के गुणों द्वारा कराए गए कार्य करने को सब विवश हैं, कोई भी एक क्षण भी कर्म के बिना नहीं रह सकता और यहां फिर याद दिला रहे हैं कि समस्त कार्य प्रकृति के गुणों के द्वारा ही सम्पन्न होते हैं। जब कार्य कराने वाली प्रकृति ही है और हम विवश हैं वह कार्य करने को, तो फिर कर्तव्य का प्रश्न ही कहां आता है? नींद आने पर सोना यदि हमारी विवशता है अत: हम कभी अपने को इसलिए महान नहीं समझते कि हमने नींद ले ली। भूख लगने पर खाना हमारे लिए आवश्यक है तो फिर खाने का अहंकार कैसा? इसी प्रकार और भी सारे कर्म हम प्रकृति के हाथों विवश होकर करते हैं। प्रकृति के तीन गुण सत्व, रजस, तमस से मिलकर मानव का स्वभाव बना है जिसे उसकी वासना कह सकते हैं। ये ही वासनाएं हमारे अंत:करण में सुषुप्त रहती हैं तथा समय-समय पर कोई-कोई वासना जागृत होती है। सबसे पहले वह बुद्धि में विचार बनकर प्रकट होती है जैसे खिलाड़ी स्वभाव के व्यक्ति के मन में विचार आता है कि मौसम अनुकूल

है, समय भी है, क्रिकेट खेला जा सकता है। फिर यही विचार मन में कामना का रूप ले लेता है 'खेला जा सकता है' बदलकर 'खेलना ही चाहिए' हो जाता है और बाद में यह कामना शरीर के स्तर पर क्रिया का रूप ले लेती है और वह खेल के मैदान की ओर दौड़ जाता है। तो उसे खिलाने वाली तो उसकी वासना है। वह स्वयं क्या कर रहा है? वह तो अधिक से अधिक एक उपकरण मात्र है।

इसी प्रकार हर वासना विचार, कामना और क्रिया का रूप ले लेती है और उसी के अनुसार वह विचार, भाव या पदार्थ के जगत में दौड़ भाग करता रहता है और अपने को कार्य करने वाला या अनुभव करने वाला या विचार करने वाला समझता रहता है। इसे ही संक्षेप में कर्तापन का अहंकार कहते हैं।

यह अहंकार उतना ही मूर्खतापूर्ण है जिस प्रकार चलती रेलगाड़ी में एक सिरे से दूसरे सिरे तक दौड़ने वाला यह समझे कि वह दौड़ने के कारण ही जल्दी पहुंच जाएगा। एक दम्पत्ति अपने चार वर्षीय पुत्र के साथ गाड़ी में जा रहे थे, कार में कुछ खराबी आने के कारण वह स्पीड नहीं पकड़ रही थी। बच्चे ने गाड़ी में बैठे-बैठे ही सामने की सीट को धक्का लगाना शुरु कर दिया-पूरी मेहनत, लगन, निष्ठा के साथ। अचानक गाड़ी ने गति पकड़ ली। बच्चा खुशी से फूल गया, देखो मैं नही होता तो गाड़ी कभी नहीं चलती। बच्चे को बच्चा समझकर मम्मी-पापा मुस्कुराते रहेंगे पर इसी प्रकार अपने कर्मों के प्रति अहंकार रखने वाले हम क्या उस बच्चे से कम हैं। इसके विपरीत ज्ञानी व्यक्ति-

तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

हे महाबाहो, गुण और कर्म के विषय में जानने वाला तत्ववित् गुणों के परिणाम स्वरूप इंद्रियां गुणों के ही परिणामरूप विषय आदि में वर्तन कर रही है, ऐसा समझकर आसक्त नहीं होता।

ज्ञानी अर्थात् तत्ववित् जानता है कि मानव का सत्य स्वरूप नित्यशुद्ध

आत्मा है जो निस्संग और मुक्त है। जो कुछ जगत में दिखलाई दे रहा है या हो रहा है- संसार की वस्तुएं और उनके साथ उसकी क्रिया-प्रतिक्रिया, यह सब प्रकृति का खेल है। वह जो कुछ करता है अपनी प्रकृति अर्थात् वासना के अनुरूप करता है जो त्रिगुणात्मिका है। जो संसार उसके चारों ओर बना हुआ है वह भी उसकी प्रकृति के अनुसार ही है और वह भी इन्हीं तीन गुणों से बना हुआ है। जो सात्विक प्रवृति के हैं उनके चारों ओर जुआरी नहीं जुटते, जो केवल मौज मजे में जीवन व्यतीत करना चाहते हैं उन्हें कर्मठ व्यक्तियों से कोई मतलब नहीं होता।

इस प्रकार वस्तुओं के साथ उसका व्यवहार गुणों का गुणों के साथ समागम है, और स्वयं को वह साक्षी चैतन्य समझता है। यह ज्ञान होने के बाद उसका कर्ताभाव लुप्त होकर केवल द्रष्टा भाव रह जाता है। कर्तापन के साथ ही भोक्तापन आता है और आशा-निराशा, राग-द्वेष, मोह-ममता, आसक्ति भोक्तापन के साथ ही जुड़ती है। कर्ता-भोक्ता भाव का स्थान जब द्रष्टाभाव ले लेता है तो वह निरासक्त हो जाता है। उदाहरण के लिए जब हम सिनेमा देखते समय हीरो-हीरोइन के साथ तादाम्य कर लेते हैं तो हमारी वृत्तियां उनके दुख-सुख के साथ एकाकार हो जाती है, उनके दुख में हम भी आंसू बहाने लगते हैं, हम स्वयं भी दुखी हो जाते हैं लेकिन जैसे ही हमें ध्यान आता है कि यह तो केवल रंगों और प्रकाश का खेल है जो स्क्रीन पर व्यवहार कर रहा है, मैं दुखी हीरो नहीं बल्कि उसका द्रष्टा हूं तो हमारी तादात्म्यता मिट जाती है, हम हीरो से निरासक्त हो जाते हैं और दुखी भी नहीं होते।

इस ज्ञान के साथ जो सिनेमा देखता है उसी की भांति ज्ञानी विषयों में वर्तन करता है। वह सौन्दर्य भी देखेगा, शब्द की मधुरता का आनन्द लेगा, गंध की सुवास, रसना के स्वाद, सबका आनन्द लेगा पर अन्दर से यह बोध बना रहेगा कि यह सब प्रकृति का खेल है इसमें मेरा कुछ भी नहीं। इस प्रकार देह में प्रवृत्ति लेकिन मन में निवृत्ति बनी रहेगी।

मूढ़ और तत्ववेत्ता की मानसिकता का विस्तृत विवेचन करते हुए भगवान एक बार पुनः कहते हैं-

प्रकृतेर्गुणसम्मूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।।२९।।

प्रकृति के गुणों से मोहित लोग प्रकृति की क्रियाओं में अर्थात् देह और इन्द्रियों के व्यापार में आसक्त होते हैं। ऐसे उन अल्पज्ञ मूढ़ों को सम्पूर्ण तत्व को जानने वाला ज्ञानी विचलित न करे।

प्रस्तुत श्लोक में भगवान ने एक बार फिर उसी बात को कहा है कि जो वे छब्बीसवें श्लोक में कह चुके हैं। जब हम किसी बात पर विशेष जोर देना चाहते हैं तो एक बार कह देना पर्याप्त नहीं जान पड़ता और हम पुनः उसी बात को कुछ समझा कर कहना चाहते हैं। अविद्वान, अल्पज्ञ, मूढ़ व्यक्ति आसक्ति के साथ कर्म करते हैं जो उचित नहीं लेकिन किसी भी अवस्था में भगवान यह नहीं चाहते कि कोई कर्म का त्याग करे। अतः दुबारा यहां कह रहे हैं कि ज्ञानी पुरुष को चाहिए कि वह उन अल्पज्ञों को कर्म पथ से विचलित न करें। कर्म के प्रति भगवान का आग्रह कितना अधिक है यह इस श्लोक में हुई पुनरावृत्ति से समझ में आ जाता है।

वस्तुतः संसार मोह, ममता स्वार्थ, अहंकार, राग, द्वेष और आसक्ति के साथ काम करने वालों से भरा पड़ा है। ऐसे भी महात्मा बहुत मिल जाएंगे जिन्हें इस संसार से कोई लेना देना नहीं। ये निरासक्त, आत्माराम महापुरुष जगत से सर्वथा उदासीन ब्रह्म चिन्तन या ब्रह्मानुभूति में रमे रहते हैं और देह की अत्यावश्यक क्रियाओं को छोड़ और किसी कर्म में लिप्त नहीं होते किन्तु श्री कृष्ण तो कर्म योगी का आदर्श प्रस्तुत कर रहे हैं।

आदर्श स्थिति वह है जब हमारा मन तो निवृत्ति में प्रतिष्ठित रहे, निरासक्त बना रहे और शरीर कर्म में प्रवृत्त रहे। निवृत्ति और प्रवृत्ति का यह समन्वय जैसे दिशा और गति का समन्वय है। जिस प्रकार किसी लक्ष्य तक पहुंचना हो तो दिशा भी ठीक होनी चाहिए और गति भी अच्छी होनी चाहिए उसी प्रकार साधना के उच्चतम लक्ष्य तक पहुंचना है, सम्पूर्णता को प्राप्त करना है तो विचार भी सही होने चाहिए और कर्म भी। गीता के इस विचार को न उतारने के कारण आज हमारे देश में उल्टी बात हो रही है। कर्म तो हमने त्याग दिया है और ज्ञान पाया नहीं, या बुरे कर्म करते रहते हैं और

रटे रटाये शब्द कह देते हैं कि ये तो गुण ही गुणों में बरत रहे हैं, मेरे मन पर कोई लेप है नहीं। भगवान तो बारम्बार हमें कह रहे हैं कि कर्म किसी भी अवस्था में न छोड़ना उचित है न दूसरे से छुड़वाना। ज्ञानी और अज्ञानी किसी भी स्थिति में कर्म से च्युत न हो इसे अत्यन्त जोर देकर कहने के बाद अब कर्म की कला बताते हैं।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।३०।।

सभी कर्मों को मुझमें समर्पित करते हुए, चित्त को आत्मा में केन्द्रित कर आशारहित, ममता रहित और संताप रहित होकर युद्ध कर।

गीता में दिए गए भगवान के अब तक के उपदेशों से हम उत्साहित हो उठे। सचमुच कर्म ही महान है, यही आत्म उन्नति और उद्धार का साधन है। बस हम कर्म क्षेत्र में कूद पड़े। रात दिन लगे हैं, खून पसीना बहा रहे हैं लेकिन न आत्मोद्धार ही हो रहा है न सांसारिक दृष्टिकोण से हम अपने को सफल मान पाते हैं। ऐसा क्यों? भगवान की वाणी झूठी है या कहीं हम गलती पर हैं। इस श्लोक में भगवान कर्म करने की कला बता रहे हैं। कर्म करने की इच्छा और संकल्प के साथ कला भी तो आनी चाहिए तभी हमारी यात्रा सफल होगी।

पहले दूसरी पंक्ति का अर्थ देखें। भगवान कहते हैं–अर्जुन तू निराशी, निर्मम और विगत ज्वर होकर युद्ध कर। तीनों शब्द बड़े अटपटे लग सकते हैं। 'निराश होकर निर्ममता अर्थात् क्रूरतापूर्वक युद्ध कर और ध्यान रख कि तुम्हें ज्वर न हो।' याद रखें कि ये शब्द एक परम ज्ञानी द्वारा बुद्धिमान और जिज्ञासु प्रकृति के व्यक्ति को कहे गए हैं। व्यास जी ने ऐसे शब्दों का व्यवहार इसीलिए किया है कि हम समझ लें कि तत्व की बातें शाब्दिक अर्थ द्वारा नहीं जानी जा सकती। इसके लिए चिंतन आवश्यक है।

पहला शब्द है निराशी। इसका अर्थ होगा आशा रहित होना। प्रायः ऐसा होता है कि कर्म तो हम वर्तमान में कर रहे होते हैं, लेकिन ध्यान हमारा भविष्य में होता है। 'जिस फल की आशा से कर्म कर रहे हैं वह फल मिलेगा

कि नहीं, पूरा मिलेगा कि अधूरा? उस फल का फिर नतीजा क्या होगा? लोग ईर्ष्या करेंगे ... मैं उन्हें दिखा दूंगा कि मैं क्या हूं ...' इस प्रकार हमारा शरीर वर्तमान में रहता है मन भविष्य में। शरीर और मन दोनों का सामंजस्य नहीं होगा तो कर्म अच्छा कैसे होगा? फल की आशा त्यागने की जब भगवान कहते हैं तो इसका मतलब यह नहीं होता कि भगवान का मूड होगा तो फल देंगे, नहीं मूड होगा तो नहीं देंगे। फल तो मिलेगा लेकिन, 'हे मानव, यदि तुम अच्छे फल के अधिकारी बनना चाहते हो तो कर्म करते समय फल का ध्यान मत करो। अपनी पूरी शक्ति कर्म में लगाओ।'

दूसरा शब्द है- निर्मम, जिसका अर्थ निष्ठुरता नहीं, निः मम अर्थात् ममता रहितता है। ममता = 'मैं और मेरा।' यह सब मेरी यादों की गठरी है, मैंने अतीत में क्या-क्या किया, कितनों का भला किया, कितनों को धोखा दिया, इन सबसे जो बना वह आज 'मैं' हूं-एक ऑफिसर, व्यापारी या नेता। इन कर्मों-कुकर्मों में जो-जो मेरे साथ रहे वे 'मेरे' हैं और इन दोनों का सम्मिलित रूप मेरी ममता है। ममता का संबंध अतीत से है पर हम वर्तमान में कर्म करते हुए अतीत की यादों में खोए रहते हैं। 'अमुक ने दस वर्ष पहले मुझे इतना बड़ा धोखा दिया था,' याद करके आज भी मेरा खून खौल उठता है, मैं स्वयं परेशान हो जाता हूं। ऐसे मैं 'अभी' मुझे जो करना है वह सही होगा कैसे?

तीसरा शब्द है विगत ज्वर। ज्वर से हमारा शरीर कांपने लगता है और हम कुछ करने योग्य नहीं रहते। एक ज्वर और है- मानसिक ज्वर। किसी भी कर्म को करते समय ही हम यदि उत्तेजित और उद्विग्न रहें, घबराने लगें, हड़बड़ाने लगें तो वह कर्म कभी अच्छा नहीं हो सकता।

इस प्रकार अतीत की स्मृतियों, वर्तमान की उत्तेजनाओं और भविष्य की चिंताओं में हमारी शक्ति बर्बाद होती रहती है और हम कभी अपनी परिस्थियों को, कभी समाज को और कभी अपने आप को कोसते हुए हाथ मलते रहते हैं।

चलिए इतना समझ लिया कि इन तीन दिशाओं में शक्ति बर्बाद न कर पूरा ध्यान वर्तमान कर्म पर केन्द्रित करना चाहिए लेकिन 'क्या करना चाहिए' जान लेने मात्र से समस्याएं हल तो नहीं हो जाती। अतीत के दुखों

को याद करके आंसू बहाना क्या हमें खुद अच्छा लगता है? लेकिन यादें हैं कम्बख्त पीछा ही नहीं छोड़तीं। जितना भूलने की कोशिश करते हैं उतनी ही अधिक सताती हैं।

गीता में भगवान कोरा उपदेश कभी नहीं देते। उपदेश के साथ उसे जीवन में उतारने की व्यवहारिक टेकनीक भी बताते हैं। इस श्लोक की पहली पंक्ति में उन्होंने दो निर्देश दिए हैं- 'सभी कर्मों को मुझमें समर्पित करते हुए' और 'चित्त को आत्मा में केन्द्रित कर।'

यदि हम अपने कर्मों को भगवान को समर्पित करें तो इससे भगवान को कोई लाभ नहीं होने वाला। वे तो पूर्ण काम हैं, उन्हें किसी की अपेक्षा और चाह नहीं। यह सलाह तो प्रेमवश हमारे भले के लिए दे रहे हैं। जैसे कोई व्यक्ति नया व्यापार करना चाहता है उसे घबराहट हो रही है- 'पता नहीं कर पाऊंगा कि नही?' कभी वह अतीत की सोचता है- 'कितनी दफा कोशिश की हर बार घाटा ही तो लगा, इस बार कहां से मुनाफा होना है? यह तो मेरे भाग्य में ही नहीं लिखा।' कभी वह भविष्य की चिंता करने लगता है- 'यदि व्यापार न चला तो सारी पूंजी डूब जाएगी, मैं कंगाल हो जाऊंगा।' इतने विचारों में घिरा व्यक्ति कैसे सही निर्णय लेगा और कैसे उसे सफलता मिलेगी? अपना खराब भाग्य तो वह स्वयं ही अपने हाथों से लिख रहा है। पर यदि कोई ऐसा हितैषी मिल जाए जो बहुत शक्तिवान और धनवान हो, साथ ही उससे अत्यन्त प्रेम भी करता हो और वह कहे- 'देखो, तुम भूत-भविष्य की चिंता छोड़कर अपने काम में मन लगाओ। अच्छा! तुम यही समझ लो कि यह काम तुम मेरे लिए कर रहे हो। नफे-नुकसान की चिंता तुम्हें करने की जरूरत नहीं। यह देखना मेरा काम है कि तुम्हें अपनी मेहनत और लगन का फल जरूर मिले।' विचार कीजिए, वह व्यक्ति अपने आप को कितना हल्का महसूस करेगा और उसके कर्म कितने बढ़िया होंगे, बशर्ते कि उसे अपने हितैषी पर दृढ़ विश्वास और श्रद्धा हो। भगवान की सर्वशक्तिमत्ता और सहृदयता पर श्रद्धा रख इस भावना से कर्म करे कि हम तो उसके चाकर हैं, फिर देखिए कार्य कुशलता में कैसा परिवर्तन आता है। हम निराशी, निर्मम, विगतज्वर हो जाएंगे।

यदि आप इतने भावुक नहीं कि श्रीकृष्ण के साथ श्रद्धा-विश्वास

की डोर से बंधा सके तो भी कोई बात नहीं। आपके लिए दूसरा फार्मूला भी है भगवान के पास। चित्त को आत्मा में केन्द्रित करके कर्म करने से भी सफलता सुनिश्चित है। ये जो ममता, अहंता, अतीत, भविष्य के सम्बंध में है, वे सब शरीर से संबंध रखते हैं, लेकिन मेरा शरीर 'मेरा' है 'मैं' नहीं। मैं तो आत्मा हूं जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ का अंश है और सुख-दुख, हानि-लाभ, भूत-भविष्य से परे है। जगत के सम्बधों के साथ मेरापन जब समाप्त हो जायेगा तो हम न भोक्ता रह जायेंगे न कर्ता। तब हमारे कर्मों में स्वाभाविक रूप से निखार आयेगा। यह तर्क करने की नहीं, अनुभव करने की बात है।

ये सारी बातें बताने के साथ-साथ भगवान कहते हैं, 'हे अर्जुन, तु युद्ध कर।' हम सब भी अर्जुन की भांति जीवन के संघर्षों में जूझ रहे हैं और यह उपदेश केवल अर्जुन के लिए नहीं, हम सबके लिए हैं ताकि हम इन संघर्षों का सफलतापूर्वक सामना करते हुए उच्च जीवन जी सकें। भगवान कहते हैं-

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

जो मनुष्य श्रद्धापूर्वक, दोषदृष्टि न रखते हुए मेरे मत के अनुसार नित्य वर्तते हैं, वे भी कर्मों से छूट जाते हैं।

पिछले श्लोक में भगवान ने अर्जुन को अतीत की यादों, वर्तमान के उद्वेग और भविष्य की चिंताओं को त्याग युद्ध करने की सलाह दी थी। इसकी तकनीक बताई - कर्मों को भगवान को समर्पित करना तथा आत्मचित्त होगा। याद रहे अर्जुन ने पूछा था- 'भगवान आप स्पष्ट कहिए मेरा कल्याण क्या करने में है?' और भगवान का उत्तर पिछले श्लोक के साथ समाप्त हुआ। कर्म क्षेत्र में युद्ध करने की यह तकनीक और सलाह केवल अर्जुन के लिए नहीं, बल्कि हम सबके लिए है, यह इस श्लोक में एकदम स्पष्ट हो जाता है जब भगवान कहते हैं कि मेरे इस मत के अनुसार व्यवहार करने वाले सभी मानव कर्म से मुक्त हो जाते हैं।

कर्म से मुक्त होने का तात्पर्य कर्म करने से सदा के लिए छुट्टी मिल जाना नहीं। भगवान तो काफी विस्तार से समझा चुके हैं कि कर्म तो सभी को करना ही है। यहां तात्पर्य कर्म बंधन से छूटना है। हम कुछ करते हैं, उसका फल हमें मिलता है। फल हमने भोग लिया, पर मामला इतने में खत्म नहीं होता। हमारे मन में उस कर्म या उसके फल के प्रति राग या द्वेष की भावना संस्कार के रूप में रह जाती है। जैसे पहली बार रसगुल्ला खाया तो मन में उसकी मिठास की याद रह गई जो बार-बार हमें रसगुल्ले की ओर खींचती है।

इस प्रकार कर्म से फल, फल से वासना, वासना से पुनः कामना और कामना से फिर कर्म, यह चक्र चलता रहता है, हम जीवन भर चक्कर खाते रहते हैं और कभी अपने जीवन का मूल्यांकन करने बैठते हैं तो लगता है, 'इतना कुछ कर के क्या पाया?' लेकिन यदि हम भगवान श्री कृष्ण के मत के अनुसार आत्मचित्त हों, उन्हें समर्पित करते हुए भूत-भविष्य की चिन्ता से मुक्त होकर कर्म करेंगे तो यह चक्र हमें बांधेगा नहीं, ये फल हमें लुभा कर नई वासनाओं के जाल में फंसायेंगे नहीं। संसार के बीच रहकर इसमें संघर्ष करते हुए भी हमारा हृदय उन्मुक्त रहेगा। लेकिन इसमें भी भगवान ने दो शर्तें लगाई हैं। कर्म हम उपरोक्त भावना से तो करें ही साथ-साथ हममें १. श्रद्धा और २. अनसूया प्रवृत्ति हो।

पिछले श्लोक में भी कहा जा चुका है कि यदि हमारा कोई परम हितैषी हमारी सारी रिस्क स्वयं वहन करते हुए हमें उन्मुक्त होकर व्यापार करने के लिए प्रेरित करें तो हम उसकी इस सलाह का लाभ तभी उठा पायेंगे जब उसकी सहृदयता पर हमें श्रद्धा हो। अभी हमने उसे परखा नहीं है। हर किसी के कहने मात्र से भी हम उनकी बात का विश्वास नहीं कर लेते। लेकिन श्रद्धा तब होती है जब कि जितना हम उसे जान सकते हैं उतना तो विश्वसनीय लगता है इसलिए हम अपने मन में यह धारणा कर लेते हैं कि वह व्यक्ति जो कहेगा सच ही कहेगा और हमारे हित की बात ही कहेगा। जैसे विज्ञान की कक्षा में अपने सहपाठी की किसी भी बात को सोचे-विचारे बिना मान लेना अन्धविश्वास हो सकता है लेकिन इसका मतलब यह नहीं कि शिक्षक द्वारा कही गई या पुस्तक में पढ़ी गई हर बात को हम प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा अनुभव करके ही मानने को तैयार होंगे। हम पहले मन में

धारणा बना लेते हैं कि ये विद्वान हैं, गुरुजन हैं, जो कहते हैं सही कहते हैं, तब उसे समझने और प्रेक्टिकल एक्सपेरीमेंट करके देखने का प्रयत्न करते हैं। यही श्रद्धा है जो हमारी शिक्षा, हमारी प्रगति के लिए बहुत आवश्यक है।

दूसरी बात है अनसूया प्रवृत्ति अर्थात् दोष दृष्टि न होना। यदि हम किसी को धोखेबाज या उचक्का समझेंगे तो अपने पूर्वाग्रह के कारण उसकी हर बात हमें गलत ही नजर आएगी और कभी हमारे हित की बात कहेगा तो भी हम उसे मानेंगे नहीं।

भगवान कहते हैं मेरे मत के अनुसार दृढ़ता के साथ व्यवहार करने वाले तो कर्म बंधन से छूटते ही हैं, जो इसमें श्रद्धा और अनसूया वृत्ति रखते हैं वे भी (ते अपि) इस बंधन से मुक्त हो जाते हैं। तात्पर्य यह है कि जब ये दोनों वृत्तियां आ जाएंगी तो देर-सबेर उसे हम व्यवहार में उतारेंगे ही।

और जो ऐसा नहीं करते? भगवान उनके बारे में बताते हैं:-

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३२।।

परन्तु जो मेरे मत में दोष निकालते हुए उसके अनुसार नहीं बर्तते उन लोगों को तू सब प्रकार के ज्ञान में मोहित, अविवेकी और कल्याण के पथ से भ्रष्ट हुआ ही जान।

भगवान श्री कृष्ण ने अब तक जो कहा कि भूत-भविष्य और वर्तमान की चिंताओं, आशंकाओं, उद्वेगों से मुक्त होकर मुझमें समर्पित करते हुए कर्म करो, श्रद्धा रखो, दोष दृष्टि न रखो तो तुम कर्मबंधन से मुक्त हो जाओगे, यह बात सुनने में कितनी सीधी सी लगती है लेकिन हम मुक्त हो क्यों नहीं पा रहे? इसका कारण हम तथाकथित बुद्धिजीवियों में श्रद्धा और अनसूया प्रवृत्ति का ही अभाव है।

हम कहेंगे, अरे वाह! भगवान तो बड़े आत्मप्रशंसक और चाटुकारिता पसन्द हैं। 'जो मुझे भजेगा वह मुक्त हो जाएगा, जो मेरी बात नहीं मानेगा वह नष्ट हो जाएगा', यह भी कोई बात है? यानि हमने भगवान में दोष देख लिया,

उनके वचनों में श्रद्धा नहीं रखी। इससे भगवान को क्या नुकसान हुआ? नुकसान तो हमारा ही हुआ। गीता में जो कुछ लिखा है, उसमें जितना कुछ हम जीवन में प्रत्यक्ष देख पाते हैं वह सब कुछ अक्षरशः सत्य उतरता देख रहे हैं तो हमें मानना चाहिए कि जो हम अभी देख या समझ नहीं पा रहे वह भी ठीक हो होगा, उसे हमें स्वीकार करना चाहिए और यह सोचना चाहिए कि ऐसा जीवन जीकर देखें तो सही। लेकिन नहीं! हम तो इन प्रश्नों के उत्तर खोजते हैं कि भगवान कृष्ण हुए थे कि नहीं इसका क्या प्रमाण है? यह बात भगवान ने नहीं कही होगी यह तो व्यास जी ने अपने मन से गढ़ कर कही है। क्या युद्ध क्षेत्र में इतना लम्बा उपदेश दिया जा सकता है? यह तो सम्भव ही नहीं है, और हम इन्हीं में उलझे रहते हैं, गीता पर श्रद्धा रख जीवन में उतारने का प्रयत्न नहीं करते।

इन बुद्धिजीवियों से भी तेज एक वर्ग ऐसे लोग का है जो कहेंगे- 'हम नहीं मानते कि भगवान कुछ होता है। उनसे पूछा जाए कि 'भइया, भगवान नहीं होता, यह निष्कर्ष तुमने कुछ अध्ययन मनन या खोजबीन करके निकाला है या ऐसे ही निकाला है?' तो वे कहेंगे, 'जो दिखता नहीं उसे हम कैसे मान लें, हम मूर्ख हैं क्या? यानि अनुभव किए बिना हम मानेंगे नहीं, और अनुभव करने का प्रयत्न हम करेंगे नहीं, तो नुकसान किसे होगा? अज्ञान के अंधकार में कौन पड़ा रहेगा? और अंधकार में प्रकाश के बिना चलेंगे तो गिरेंगे ही, चोट खाएंगे हीं।

एक दृष्टान्त से समझें। एक विद्वान ने हमसे कहा कि हमारे रक्त की एक बूंद में हजारों लाखों श्वेत कण होते हैं। हम कहेंगे 'हः! रक्त तो साफ-साफ लाल दिख रहा है, इतनी मात्रा में श्वेत कण होने से रक्त लाल दिखाई दे ही नहीं सकता। जो दिखता नहीं उसे, हम नहीं मानेंगे।' वह कहेगा, 'भइया, तुम चाहोगे तो तुम्हें दिख भी जाएगा लेकिन इसके लिए तुम्हें माइक्रोस्कोप लाना होगा, स्लाइड बनानी होगी, उसे फोकस करना होगा, तुम करके देखो तो सही।' पर हम कहते हैं, 'ये लोग तो बस हमें बेवकूफ बनाने के चक्कर में रहते हैं, लेकिन हम कोई अन्धविश्वासी थोड़े ही हैं जो इनकी बातों में आ जाएंगे।' अतः न तो हम कही हुई बात मानेंगे, न प्रत्यक्ष परीक्षण की मेहनत करेंगे। रक्त की असलियत, रक्त का तत्व समझे बिना हम डाक्टरी की प्रैक्टिस करना चाहते हैं। अपना तत्व और कर्म का रहस्य जाने बिना हम

संसार में वर्तन करना चाहते हैं और भगवान कहते हैं कि 'अर्जुन तुम जान लो कि ऐसे लोग भ्रष्ट ही होंगे, पतित ही होंगे, उनका कल्याण कभी नहीं हो सकता।' एक मामूली सी मशीन को भी कुशलता पूर्वक चलाने के लिए उसकी निर्देश-पुस्तिका पर विश्वास कर उसके अनुसार चलना पड़ता है तो अपना यह अनमोल जीवन! हम बिना इसके रहस्यों और नियमों को जाने जैसे जी चाहे चलाना चाहेंगे तो उसमें सुंदरता, मधुरता और सामंजस्य कहां से आएगा!'

गीता में भगवान के दिए गए निर्देशों को मनवाने के लिए माइक्रोस्कोप या मशीन की निर्देश पुस्तिका का उदाहरण तर्क के लिए दिया जा सकता है लेकिन व्यवहार में इतना सरल नहीं, यह भी स्वीकार करते हुए भगवान कहते हैं-

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

ज्ञानी भी अपने निज स्वभाव के अनुरूप चेष्टा करता है। सभी प्राणी स्वभाव का ही अनुवर्तन करते हैं इसमें निग्रह भला क्या करेगा?

अपने आप को और अपने जीवन मूल्यों को बदलना अध्यात्म विज्ञान है और यह भौतिक विज्ञान से अधिक सूक्ष्म है। अधिक दुरूह भी। रक्त की सत्यता को देखने के लिए तो हम माइक्रोस्कोप की ट्यूनिंग कर लेंगे और सच्चाई हमारे सामने आ जाएगी। माइक्रोस्कोप हमारे हाथों का खिलौना है, उसे हम जैसे चाहे नचा सकते हैं, उसका निग्रह कर सकते हैं, वह पूरी तरह हमारे नियंत्रण में रहता है। संसार में जो कुछ हम देखते हैं और ग्रहण करते हैं, जो कुछ कर्म करते हैं वह ऊपरी नजर से देखने में ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों की क्रिया जान पड़ती है लेकिन उसमें एक वाइरस घुसा हुआ है- वासना ग्रसित मन या स्वभाव। कम्प्यूटर के वाइरस की भांति यह सब कुछ मटियामेट कर डालता है। हम चाहें कि आंख बंद कर लें और बाहर की ओर देखना बंद कर अन्तर्मुखी हो जाएं। आंखों का निग्रह तो हम कर लेंगे, लेकिन केवल इस नियंत्रण से क्या होगा? हमारा तो स्वभाव है सुबह सुबह सारे दिन भर

के कार्यक्रमों को सोच-सोचकर टेंशन पालना। हम कितनी भी अच्छी तरह क्यों न मान लें कि सुबह तो ध्यान करने से ही जीवन में लाभ होगा। करते हम वही हैं जो हमारा स्वभाव हमसे कराता है। निग्रह क्या करेगा? आंखे बंद करके भी हम वही करेंगे जो अब तक करते आए हैं, जो हमारी वासना हमसे नित्य कराती आई है। कागज कलम न होने पर भी मन ही मन हम व्यापार की ही योजना बनाएंगे। ध्यान व्यापार का ही होगा, आत्मा का नहीं। चिंतन परिवार का ही होगा भगवान का नहीं।

'निग्रह: किं करिष्यति' कहने से भगवान का तात्पर्य यह नहीं कि आत्म नियंत्रण बेकार है। जब निश्चित रूप से जैसी हमारी प्रकृति है वैसे कर्म होने ही हैं तो हम इस पचड़े में पड़े ही क्यों? तात्पर्य तो यह है कि केवल इन्द्रियों के दमन से कुछ नहीं होगा, हमें अपने स्वभाव को बदलना होगा। इसके लिए साधना की आवश्यकता है। हमारे मन के ऊपर हमारी संस्कारगत वासनाओं का जो लेप चढ़ा हुआ है उसे दूर करने का प्रयत्न करना होगा। यह लेप जन्म जन्मांतरों से चढ़ता आ रहा है। जैसे हम जिस डब्बे में वर्षों से अचार रखते आ रहे हैं उसे साबुन से धोकर उसमें मिठाई रख दें तो मिठाई में भी अचार की गंध आने लगेगी क्योंकि बहुत दिनों से उस डिब्बे में बसी हुई अचार की गंध एकाएक नहीं जा सकती। इसी प्रकार हमारी आज जैसी भी प्रकृति है वह अनेकानेक जन्मों के कर्मों का फल है। हर कर्म के साथ उसकी एक छाप, एक प्रभाव, एक संस्कार इस मन रूपी डब्बे में रह गया है। इन्हें ही वासना कहते हैं क्योंकि इसमें वास यानि गन्ध है जो हमारे आगे के कर्मों और विचारों में भी घुस जाती है। इसे दूर करने के लिए केवल जानकारी और उसके अनुसार इन्द्रियों का बलपूर्वक नियंत्रण (दमन) काफी नहीं। 'निग्रह: किं करिष्यति' का अर्थ यह न लिया जाय कि निग्रह से कुछ नहीं होगा अत: वह अनावश्यक है। निग्रह तो करना ही होगा पर इतने मात्र से सफलता नहीं मिल जाएगी। हमें अपने स्वभाव, अपने राग द्वेषों पर विजय पाना होगा यह बात भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्यपरिपन्थिनौ।।३४।।

इन्द्रियों का अपने अपने विषयों में राग द्वेष स्वाभाविक हैं। किसी को इस राग और द्वेष के वश में नहीं आना चाहिए क्योंकि ये दोनों उसके (कल्याण मार्ग में विघ्न डालने वाले) शत्रु हैं।

पिछले श्लोक में भगवान ने बताया कि केवल इन्द्रियों के निग्रह से कुछ नहीं होगा और इस श्लोक में बताते हैं कि इसके साथ और क्या करना होगा।

हमारी इन्द्रियां बनी ही विषयों के भोग करने या उनमें विचरण करने के लिए हैं। जैसे आंखें इन्द्रियां हैं और दृश्य उनके विषय। कान इन्द्रियां हैं और ध्वनि, संगीत आदि उनके विषय। अब यह तो स्वाभाविक ही है कि आंखों को अच्छा दृश्य अच्छा लगेगा, बुरा दृश्य बुरा लगेगा। अर्थात् अनुकूल विषय के प्रति राग और प्रतिकूल विषय के प्रति द्वेष होना तो प्रकृति की व्यवस्था है। आंख, कान को जबर्दस्ती बंद करने से तो कोई लाभ नहीं होगा। उससे तो दोहरा नुकसान ही होगा, एक तो हम अपने आवश्यक कर्म भी नहीं कर पाएंगे दूसरे उन्हें बंद कर लेने पर मन तो और अधिक उन विषयों का चिंतन करेगा।

राग-द्वेष आए ही नहीं यह भी सोचने से कोई लाभ नहीं क्योंकि भगवान स्वयं ही कहते हैं कि यह तो प्रकृति की व्यवस्था है। बेसुरे गीत को सुन कर हम वाह-वाह कैसे कर सकते हैं?

निग्रह से भी कुछ नहीं होगा, राग-द्वेष भी होना स्वाभाविक है तो जब हम स्वभाव के इतने वशीभूत हैं तो करने को रह ही क्या गया है? इसका उत्तर श्लोक की दूसरी पंक्ति में हैं। वह यह कि उन्हें अपना शत्रु समझते हुए इनके वश में न आएं। यही साधना है। बुद्धि मन को लपेटी हुई वासना से प्रभावित न हो।

यह तो स्वाभाविक बात है कि हमें साफ-सुथरे, सुन्दर बालक अधिक अच्छे लगेंगे। यदि किसी डाक्टर के पास दो बालक इलाज के लिए आएं। एक साफ-सुन्दर कपड़े पहने, दूसरा निर्धन का पुत्र हो, मैला कुचैला भी हो तो उसे देखकर डाक्टर की आंखों को तो अच्छा नहीं ही लगेगा लेकिन उसका धर्म उसे इसके वशीभूत होकर उस बच्चे को दुत्कारने की अनुमति नहीं देता।

उसे तो उसका भी इलाज वैसे ही बल्कि उससे से भी अधिक करुणा और प्रेम के साथ करना होगा जितने प्रेम से वह पहले बालक का करता है। इसी में डाक्टर का कल्याण है। राग-द्वेष के वश में होने वाले डाक्टर को तो न भौतिक जगत में यश मिलेगा न आन्तरिक जगत में आत्मसंतोष की प्राप्ति होगी।

अतः हमारी साधना का उद्देश्य इन्द्रियों का निग्रह न होकर राग-द्वेष का निग्रह होना चाहिए। संसार से न भागकर संसार के प्रति राग-द्वेष को भगाना चाहिए। वास्तव में यही होता है कि हम अपने चारों ओर के जगत को, अपनी पसन्द-नापसंद को, अपने बन्धु-बान्धाव तथा अपने शत्रुओं को बहुत अधिक महत्व देते हैं और इसके फलस्वरूप हमें अपने प्रियजनों के कारण भी इतना ही दुख होता है कि जितना शत्रुओं के कारण। जिनमें हमारा सबसे अधिक प्रेम होता है उनके लिए तो हम सबसे ज्यादा दुखी रहते हैं। अतः त्यागना संसार को नहीं, संसार के प्रति महत्व बुद्धि को है। यही वास्तविक त्याग है, यही वास्तविक साधना है जो हमें भीतर-बाहर हर जगत में सफलता दिला सकती है। हम उद्विग्न भी नहीं होंगे, अपना कार्य भी अधिक कुशलता से कर पाएंगे फिर उपलब्धियां जाएंगी कहां-

श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

अच्छी तरह से अनुष्ठित दूसरे के धर्म की अपेक्षा अपना गुण रहित धर्म कहीं अधिक श्रेयस्कर है। स्वधर्म में रहकर मृत्यु को प्राप्त हो जाना अधिाक श्रेयस्कर है। परधार्म भय देने वाला है।

प्रस्तुत श्लोक गीता के उन विशिष्ट श्लोकों में एक है जो हमारी बोलचाल में ही काफी प्रचलित है। इनका जितना उपयोग होता है उससे अधिक दुरुपयोग। बहुधा इसका प्रयोग यह बताने के लिए होता है कि ब्राह्मण कुल में जन्मे हुए को तो पूजा पाठ ही करना चाहिए और शूद्र के घर जन्मे बालक का धर्म सेवा चाकरी करना ही है उसे ज्यादा बड़ी-बड़ी बातें नहीं सोचना चाहिए।

अनर्थ का कारण अर्थ को ठीक ठीक न समझ पाना है इस श्लोक को समझने के लिए हमें धर्म, स्वधर्म और परधर्म शब्दों को अच्छी तरह समझना होगा।

किसी भी वस्तु या प्राणी का धर्म वह है जिसके बिना वह वस्तु रह ही नहीं जाती। जैसे अग्नि का धर्म है ताप, क्योंकि ताप न हो तो कुछ यदि देखने में आग जैसा लगे तो भी हम उसे आग नहीं कहेंगे। उसी प्रकार सफेद दानेदार वस्तु यदि मीठी न हो तो हम उसे चीनी नहीं कहेंगे। मिठास के बिना चीनी चीनी नहीं। चीनी से मिठास निकाल दी जाए तो चीनी रह ही नहीं जाती अत: चीनी का धर्म है मिठास। इसी प्रकार मनुष्य का धर्म है आत्मा, जो उसका तत्व है क्योंकि यदि आत्मा निकल जाए तो मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता। चूंकि आत्मा मनुष्य की नहीं सभी प्रणियों का मूल तत्व है अत: इसे परमधार्म और परमात्मा भी कहते हैं। ब्रह्म, ॐ आदि इसी के अन्य पर्यायवाची शब्द हैं।

परम धर्म तो सबका एक ही है लेकिन आत्मा के साथ वासनाएं लगी हुई है जिनके कारण हिटलर, हिटलर होता है और मोहनदास, महात्मा गांधी हो जाता है। ये वासनाएं ही उसके स्वभाव का निर्माण करती है और स्वभाव के साथ-साथ ही कर्त्तव्य या स्वधर्म बदल जाते हैं। जो अपनी वासनाओं के प्रतिकूल हो वह परमधर्म कहलाता है।

जैसे ब्राह्मण कुल में जन्म लेने पर किसी बालक का मन अध्ययन में विशेष न लगता हो और उसकी रुचि व्यापार वाणिज्य में हो तो उसके लिए वैश्य कर्म को स्वधर्म कहा जाएगा।

हमने मानव का शरीर धारण इसलिए किया है कि कर्म करके इन वासनाओं का क्षय कर दें। ये वासनाएं नहीं रहेंगी तो आत्मा का शुद्ध स्वरूप स्वयं प्रकाशमान हो जाएगा अत: हमें अनेक कर्मक्षेत्र में से एक का चुनाव करते हुए यह ध्यान में रखना चाहिए कि हमारे मूलभूत स्वभाव की मांग क्या है। जैसे किसी को बच्चों के साथ रहना, उन्हें शिक्षा देना, सिखाना पढ़ाना अच्छा लगता है और यह उसकी प्रकृति है जिसे वह अच्छी तरह समझता है लेकिन अध्यापन के क्षेत्र को अलाभकारी और बेकार मान कर वह व्यापार में लग जाता है क्योंकि उसमें बहुत धन और शोहरत है। भगवान का मत

है कि इससे जो स्थिति उत्पन्न होगी वह भयानक होगी क्योंकि प्रकृति के प्रतिकूल होने के कारण न तो व्यापार में उसे सफलता मिल पाएगी न आत्म संतोष होगा। अपने धर्म में मृत्यु भी मिले तो भी हमें समझना चाहिए कि इस हम कम से कम अपनी वासना का क्षय तो कर पा रहे हैं जो हमारे जन्म का उद्देश्य था। उद्देश्य पूरा करके शरीर को तो त्यागना ही है।

भगवान अर्जुन को यह बात इसलिए कह रहे हैं क्योंकि उसे युद्ध छोड़ कर भिक्षावृत्ति करके जीना ज्यादा कल्याणकारी मालूम दे रहा था। भगवान कहते हैं 'अर्जुन, तुमने क्षत्रिय कुल में जन्म ही नहीं लिया, तुम्हारा स्वभाव भी क्षत्रियोचित है। तुमने दूसरों को सुरक्षा देने और अन्यायियों का नाश करने की प्रवृत्ति के साथ जीवन जिया है अब यदि तुम्हें साधू का जीवन गौरवमय लग रहा है, और वास्तव में यदि यह गौरवमय हो भी, तो भी यह तुम्हारे अनुकूल नहीं। तुमने अब तक तप भी किया है तो शक्तियों की प्राप्ति के लिए किया है, इन्हें त्याग कर तुम कभी शांत नहीं बैठ पाओगे और सदा अपने इस निर्णय पर पछताओगे। आत्मग्लानि तुम्हें कहीं का नहीं छोड़ेगी अत: परधर्म का चिन्तन त्यग कर स्वधर्म का पालन करो।

इस श्लोक के साथ कर्म के संबन्ध में भगवान जो कुछ कहना चाहते थे वह बात पूरी हो जाती है लेकिन अर्जुन के मन में एक प्रश्न उठता है, यह प्रश्न सबके मन में कभी न कभी उठता अवश्य है। अर्जुन ने भी बहुत बार सोचा था, आज उपयुक्त समय जान कर वह पूछ बैठता है।

अर्जुन उवाच

अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुष:।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजित:।।३६।।

अर्जुन ने कहा- हे कृष्ण! मनुष्य किसके द्वारा परिचालित हो कर न चाहते हुए भी पाप करता है मानो बलपूर्वक लगाया गया है।

अभी भगवान स्वधर्म परमधर्म की बात कर रहे थे। हम तो बहुधा अपनी रुचि, स्वभाव और प्रकृति को अच्छी तरह समझते-बूझते भी उसके

विपरीत आचरण करते रहते हैं अतः इस संदर्भ में अर्जुन को यह प्रश्न पूछने का अवसर मिल गया। हम केवल अपने विशेष धर्म (स्वधर्म) के विरुद्ध ही व्यवहार नहीं करते, ऐसे आचरण भी करते हैं जो किसी भी प्रकार से धर्म सम्मत नहीं कहे जा सकते। हम अच्छी तरह जानते हैं कि हम जो करने जा रहे हैं वह अनुचित है, हमारी अन्तरात्मा हमें उस वक्त भी झकझोरती रहती है- 'ऐसा मत करो, ऐसा मत करो।' ऐसे गलत अचरण करना हमारे स्वभाव में नहीं, हम अन्दर से चाहते भी नहीं हैं कि हमसे अन्याय हो फिर भी न जाने कैसे हम अन्याय कर ही बैठते हैं और फिर बहुत पछताते हैं- 'न जाने क्या हो गया था मुझे, जो मैंने ऐसा कर डाला, अब तो मैं अपने पाप को कभी क्षमा नहीं कर पाऊंगा।' यह आत्मग्लानि हमें कहीं का नहीं रहने देती, हम इस दुनिया से बच भी जाएं पर अपने पाप से तो बच नहीं पाते। अपने पाप को धिक्कारते हुए यंत्रणा भोगते रहते हैं लेकिन उस समय तो ऐसा लगता है जैसे कोई अज्ञात शक्ति हमारे ऊपर हावी हो गई थी और हमसे वह कार्य करा रही थी।

इसका अच्छा उदाहरण ड्रग की आदत है। कभी-कभी सीधे-सादे सुशील लड़के भी इसके चक्कर में पड़ जाते हैं और एक बार ही नहीं बार-बार पछताते हैं, ड्रग न लेने का संकल्प करते हैं क्योंकि वे इसके दुष्परिणाम को भी अच्छी तरह समझते हैं लेकिन फिर भी बार-बार अपने संकल्प से फिसल जाते हैं और ड्रग ले लेते हैं।

अर्जुन यही जानना चाहता है कि वह कौन सी शक्ति है जो व्यक्ति के न चाहते हुए भी मानो बलपूर्वक उसे पाप में लगा देती है।

यहां पाप शब्द की व्याख्या भी आवश्यक है। झूठ बोलना पाप है, किसी को दुख देना पाप है, किसी की हत्या करना पाप है। इस प्रकार पाप-पाप शब्द का व्यवहार हम बहुत करते हैं पर पाप का सही अर्थ क्या है?

किसी बात का ज्ञान होते हुए यदि हम उसके विपरीत आचरण करें तो ऐसा करने से हम स्वयं अपनी नजरों में गिर जाते हैं। इन्ही आचरणों को पाप कहते हैं। अज्ञानता वश किया गया कर्म पाप नहीं होता, इससे कभी हमें आत्मग्लानि नहीं होती। जैसे एक नन्हा बालक खेल-खेल में पिता को लात मारता है तो न पिता को बुरा लगता है न वह बालक ही कभी विचार

करता है कि उसने गलत कार्य किया। अतः यह लात मारना पाप नहीं। लेकिन वही बच्चा युवा होने के बाद अपने पिता को लात मारता है तो पिता को अत्यन्त दुःख होता है। युवा होने तक उसे अच्छी तरह यह मालूम हो चुका है कि यह निषिद्ध कर्म है, पुत्र को तो पिता का आदर करना चाहिए फिर भी वह किसी भी कारण से ऐसा कर ऐसा कर डालता है तो उसने पाप कर्म किया है। अर्जुन जानना चाहता है कि वे कारण क्या हैं जो समझदार से समझदार व्यक्ति को भी ऐसे पाप कर्म में लगा देते हैं, जो अच्छे से अच्छे मानव को भी पशु बना देते हैं।

पाप कर्म में लगाने वाली इन शक्तियों के विषय में बताते हुए भगवान बताते हुए कहते हैं-

श्री भगवानुवाच

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। ३७।।

श्री भगवान बोले- यह काम है, यह क्रोध है, जो रजोगुण से उत्पन्न हुआ है। यह महापेटू और महापापी है। इस संसार में इसे अपना शत्रु जान।

हमारे न चाहते हुए भी हमें पाप में ठेलने वाला काम है, इसी का एक रूप है क्रोध। क्रोध हमें तभी आता है जब हम जैसा चाहते हैं वैसा नहीं होता, यानि जब हमारी कामना की पूर्ति नहीं होती। यह कामना, यह क्रोध ही हमारी बुद्धि को दूषित कर हमें पतित कर देता है, और हम न चाहते हुए भी नीच कर्म में प्रवृत्त हो जाते हैं। कामना जितनी तीव्र होगी, क्रोध उतना ही भयंकर आएगा।

काम और क्रोध की उत्पत्ति का कारण भगवान रजोगुण बताते हैं। जो सात्विक प्रवृत्ति वाले होते हैं वे तो निष्काम कर्म करते हैं। जो तमोगुणी होते हैं वे किसी भी प्रकार का कर्म करना ही नहीं चाहते। रजोगुणी प्रवृत्ति वाले मनुष्य ही काम्य कर्म करते हैं। उनकी प्रवृत्ति ही होती है घोर कर्म करने की, लेकिन सारे कर्म करेंगे वे किसी न किसी कामना की पूर्ति के

लिए ही। सत्वगुणी तो जीवन्मुक्त होते ही हैं, तमोगुणी का तो उद्धार ही नहीं हो सकता। बात ठहरती है रजोगुणी व्यक्ति पर। साधना कर अपना उद्धार कर पाने की संभावना तो कर्मठ रजोगुणी व्यक्तियों के लिए ही है जो कर्म की प्रवृत्ति का त्याग तो न करें लेकिन कामना को अपना शत्रु जान लें और इससे बचें।

भगवान कहते हैं कि काम-क्रोध महापेटू और महापापी हैं। पेटू वह होता है जिसे जितना भी खिलाया जाए उसका पेट भरता ही नहीं। उसी प्रकार काम को भी जितना संतुष्ट करने का प्रयत्न करें, वह 'और और' की मांग करता ही रहता है। इन सबको पूरा करने के प्रयत्न में मनुष्य बूढा और जीर्ण हो जाता है, लेकिन कामनाएं जीर्ण नहीं होती। कामना को पूरा करके उनसे छुटकारा पा लेने की योजना बनाना ही मूर्खता है। इन्हें सहलाना चाहिये ही नहीं, इनके साथ तो शत्रु की भांति व्यवहार करना चाहिए। दूर से आता देख हम सावधान हो जाएं और इन्हें मार गिराएं तभी जीवन का रण जीता जा सकता है। किसी भी शत्रु को पराजित करना है तो उसकी क्षमता, उसकी कार्य-पद्धति और उसके युद्ध कौशल को ठीक ठीक समझना आवश्यक है। भगवान बताते हैं कि काम किस प्रकार कार्य करता है-

धूमेनाव्रियते वन्हिर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।
आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।३९।।

जिस प्रकार आग धुएं से ढकी रहती है, जिस प्रकार दर्पण धूल-मैल द्वारा ढका रहता है, जिस प्रकार गर्भाशय से गर्भ ढंका रहता है, उसी प्रकार हे कुन्ती पुत्र, ज्ञानी की चिर शत्रु और कभी न तृप्त होने वाली कामरूपी अग्नि के द्वारा ज्ञान ढंका रहता है।

अर्जुन ने भगवान से पूछा था कि वह क्या है जिसके कारण ज्ञानी भी पाप कर्म में प्रवृत्त हो जाता है, उसका ज्ञान काम नहीं आता। इसी प्रश्न

के उत्तर में भगवान बताते हैं कि यह काम है जो ज्ञानी के ज्ञान को ढक लेता है जिससे कि रहते हुए भी ज्ञान प्रकाशमान नहीं हो पाता और किसी काम लायक नहीं रहता।

ज्ञान के इस आवरण के लिए भगवान ने यहां तीन उपमाओं का प्रयोग किया है- जैसे धुआं अग्नि को ढकता है, जैसे धूल दर्पण को ढकती है, जैसे गर्भाशय गर्भ को ढकता है। ये तीन उपमाएं अलग-अलग प्रकृति के पुरुषों के साथ लागू होती हैं।

जीव वास्तव में शिव रूप ही है, लेकिन ज्ञान पर पड़े पर्दे के कारण वह अपने शिवत्व के साथ एकरूप नहीं हो पाता और इसीलिए आनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, आनन्द स्वरूप के बजाय मरणशील, क्षुद्र, अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान, दुखी जीव बना रहता है और कामनाओं के चक्र में फंसा आनन्द प्राप्ति की आशा में तरह-तरह के पाप कर्म करता है।

जो सात्विक पुष होते हैं उनके ज्ञान पर पड़ा पर्दा अग्नि के धुएं के समान होता है। अग्नि की सुनहरी ज्वाला ज्योतिर्मय है, लेकिन अब धुआं उसे ढक लेता है तो उसका प्रकाश दिख नहीं पाता। किन्तु जरा सी हवा बहते ही वह धुआं उड़ जाएगा और अग्नि का ज्योतिर्मय स्वरूप प्रकट हो जाएगा उसी प्रकार सात्विक पुरुष संसार में जीव की भांति विचरण करते हैं। वे निष्काम कर्म करते हैं, लेकिन उस समय उन्हें आत्मानन्द की अनुभूति नहीं होती परन्तु समाधि में बैठते ही शिवत्व का अनुभव करते हैं, उन्हें यह ज्ञान सहज प्राप्त हो जाता है।

रजोगुणी प्रवृत्ति के व्यक्ति के ज्ञान पर पड़ा पर्दा दर्पण पर पड़े धूल-मैल की भांति होता है। ऐसे दर्पण में हमारा चेहरा स्पष्ट नहीं दिखाई देता, इसका अर्थ यह नहीं कि दर्पण में दोष है। उसे साफ करते ही हमें अपना स्वरूप स्पष्ट दिखाई देने लगेगा, लेकिन धूल-मैल धुएं की भांति हवा के हल्के झोंके मात्र से साफ नहीं होते। इसके लिए कपड़े से झाड़ना या गीले कपड़े से पोंछना पड़ता है। उसी प्रकार रजोगुणी व्यक्ति भी ज्ञानी की तरह व्यवहार करे, इसके लिए कुछ साधना की आवश्यकता होती है।

तमोगुणी प्रवृति के व्यक्ति का ज्ञान तो गर्भस्थ शिशु की भांति होता है। इसके रूप को देखने के लिए तो माता को नौ महीने कष्ट करना पड़ता

है, अपनी सारी शक्ति, सारा बल लगाना पड़ता है तभी जाकर शिशु दिखाई देता है। तामसी अर्थात् सुस्त, आलसी व्यक्ति को तो बहुत परिश्रम करना होगा, उसे ही नहीं, दूसरों को भी मदद करनी होगी, तब जाकर वह ज्ञानी की भांति व्यवहार कर पाएगा।

भगवान कहते हैं कि ज्ञान को आवृत्त करने वाला यह नित्य वैरी काम, अग्नि की भांति है। अग्नि में जितना घी डालो, उतना ही वह और भड़कती है, उसी प्रकार कामनाओं को जितना तुष्ट करने का प्रयास करें उतना ही वे और भड़कती हैं। इसी कामना के कारण ज्ञान होते हुए भी विवेक नहीं रहता, हम अच्छे-बुरे, सही-गलत, उचित अनुचित में अन्तर समझ नहीं पाते और इस प्रकार पाप कर्म करने लगते हैं, जैसे कोई अज्ञात शक्ति हमें बलपूर्वक धकेल रही हो।

कामरूपी शत्रु की कार्य पद्धति को समझने के बाद अब यह भी जानना जरूरी है कि इसके हेडक्वार्टर कौन-कौन से हैं। यह भगवान अगले श्लोक में बताते हैं।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।४०।।

इंद्रियां, मन और बुद्धि इस काम के आश्रय स्थल कहे जाते हैं। इनके द्वारा यह काम देही के ज्ञान को ढक लेता है और उसे मोहित करता है।

काम चूंकि हमारा आन्तरिक शत्रु है इसलिए इसके दुर्ग भी हमारे भीतर ही हैं। भीतर-भीतर रहकर ही यह हमारे ऊपर वार करता है, हम मोहित हो जाते हैं और कुछ का कुछ कर बैठते हैं। विशेष कर क्रोध में तो हम जो अनर्थ करते हैं वह बहुत ही स्पष्ट दिखाई देता है।

काम के तीन दुर्ग हैं। पहला प्रवेश दुर्ग है इन्द्रियां। इन्द्रियां यदि अनियंत्रित हो कर निर्बाध रूप से विषय भोगों में विचरण करती रहे तो काम से ग्रस्त होना स्वाभाविक ही है। हर रोज मयखाने जाने वाला व्यक्ति कब तक पीने से बच सकता है।

इन्द्रियों से प्रवष्टि हो कर काम अपना अड्डा बनाता है मन को। इन्द्रिय सुख की पूर्ति हुई तो मन खुश होता है, न हुई तो दुखी होता रहता है। इसके अलावा मन की अपनी भावानात्मक कामनाएं होती है। प्रेम, सहानुभूति, हमदर्दी आदि पाने की लालसा उसे दुखी करती रहती है।

और अंत में जब काम अपने तीसरे दुर्ग यानि बुद्धि में प्रवेश करता है तो हम अपनी शारीरिक कामनाओं की पूर्ति के लिए योजनाएं बनाते हैं। ये योजनाएं ही हमें पाप कर्म में लगाती हैं ताकि येन केन प्रकारेण हमें जो चाहिए वह हम हासिल कर ही लें।

कामरूप आन्तरिक शत्रु को पहचान लिया, उसकी कार्यशैली जान ली, उसके किलों की शिनाख्त कर ली, अब तो उसे जीतने के लिए अपनी चाल चलनी होगी। भगवान इसके विषय में भी बताते हैं।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

हे भरतर्षभ। इसलिए तूं पहले इन्द्रियों को संयत कर ज्ञान और विज्ञान का नाश करने वाले पापी काम को मार ही डाल।

पापी काम को ज्ञान-विज्ञान नाशक बताया गया है। विज्ञान संस्कृत भाषा का शब्द है और इसका अर्थ साइंस नहीं है जैसा हम आजकल हिन्दी में मानने लगे हैं। ज्ञान तो वह है जो पुस्तकों से या गुरु से सीखा जाय और विज्ञान वह है जो अपने अनुभव से जाना जाय। काम इन दोनों का ही नाश कर देता है। हमने हमेशा अनुभव किया है कि जब-जब क्रोध आता है हमें बहुत नुकसान होता है, लेकिन यह अनुभवजन्य ज्ञान अर्थात् विज्ञान कुछ भी काम नहीं आता जब काम-क्रोध रूपी शत्रु हावी हो जाता है।

शत्रु को मारना है तो उसे तभी पकड़ना ठीक होगा जब वह प्रवेश द्वार पर ही हो। जैसे-जैसे वह और अंदर घुसेगा, वह अधिक से अधिक अपना जाल फैलाता जाएगा और तब उसे घेर कर मारना और दुरूह हो जाएगा। काम मन में घुस गया तो वह भोगों की लालसा का जाल फैला देगा और बुद्धि

में घुसकर तो वह और अनर्थ कर डालता है। कामग्रस्त बुद्धि फिर भोगों को स्वीकृति देने लगती है। तब स्वेच्छाचारिता स्वतंत्रता लगने लगती है, व्यभिचार मानव की एक स्वभाविक प्राकृतिक मांग प्रतीत होने लगता है, यहां तक कि मैथुन-सुख समाधि का मार्ग नजर आने लगता है। काम एक शत्रु है, रोग है, और इससे दूर करने का प्रयत्न हम तभी करेंगे जब हमारी बुद्धि इसे शत्रु या रोग के रूप में पहचानेगी। साधारण अवस्था में जब हम विषय भोगों का चिंतन करते हैं तो बुद्धि में कहीं तो आवाज उठती है कि यह शुभ नहीं, लेकिन जब बुद्धि ही इसके वशीभूत हो जाती है तो काम चिंतन हमें स्वाभाविक और उचित लगने लगता है। ऐसे में इसे मारने का उपाय होगा ही कैसे?

अतएव भगवान कहते हैं कि इस भयावह स्थिति से बचना है तो काम को इन्द्रियों के स्तर पर ही मार डालो। इंद्रियों का संयम करेंगे तो काम के जितने सैनिकों की घुसपैठ मन-बुद्धि में हो चुकी है उन्हें भी रसद मिलनी बंद हो जाएगी और बेहाल होकर वे स्वयं आत्मसमर्पण को विवश हो जाएंगे। तात्पर्य यह है कि जैसे घी के अभाव में अग्नि शांत हो जाती है उसी प्रकार विषय भोगों के अभाव में यह कामाग्नि धीरे-धीरे ठंडी पड़ जाएगी।

भगवान भी विचित्र हैं। अभी कुछ देर पहले कह रहे थे कि निग्रह से क्या होगा? अभी कह रहे हैं 'इंद्रियों का निग्रह करो।' दोनों व्यक्तव्य विरोधाभासी जान पड़ते हैं किन्तु हैं नहीं। भगवान अगले श्लोकों में बता रहे हैं कि निग्रह करने के बाद क्या करना चाहिए। साथ ही यह भी पता लग जाएगा कि इन्द्रिय निग्रह की सही विधि क्या है।

दुश्मन के सभी ठिकाने जान लेने के बाद किस ठिकाने को लक्ष्य बनाना है यह योजना तो बना ली, अब उस लक्ष्य की ओर बढ़ना कैसे है यह भी तो विचार करना होगा। भगवान अधूरा ज्ञान तो देते नहीं। अगले दो श्लोकों में वे हमें चाल समझाएंगे।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः।।४२।।
एवं बुद्धेः परं बुद्धवा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।४३।।

इन्द्रियों को (शरीर से) श्रेष्ठ कहते हैं। इन्द्रियों से श्रेष्ठ मन है, मन से श्रेष्ठ बुद्धि है और जो बुद्धि से भी परे है वह आत्मा है।

हे महाबाहो अर्जुन, इस प्रकार (आत्मा को) बुद्धि से परे जानकर अपने आप को आत्मनियंत्रित करके इस दुर्जय कामरूप शत्रु को मार डाल।

शरीर से ऊपर इन्द्रियां, इन्द्रियों से ऊपर मन, मन से ऊपर बुद्धि और बुद्धि से ऊपर आत्मा कहने का तात्पर्य यह नहीं कि वे नाप जोख के पैमाने से ऊपर नीचे है। जो नीचे है उसे अधीन कहना और जो ऊपर है उसे बॉस समझना उपयुक्त होगा।

हमारा शरीर तो इन्द्रियों के अधीन है, वे जैसा चाहती हैं शरीर से करा लेती हैं। रसना को मिठाई चाहिये तो शरीर बाजार दौड़ जाता है। इन्द्रियां मन के अधीन हैं। जैसी मन में तृष्णा होगी वैसी ही इन्द्रियां मांग करेंगी। मन का बॉस बुद्धि है (या होना चाहिये) और इन सबका बॉस आत्मा है जिसके बिना जीव रूपी ऑफिस चल ही नहीं सकता।

आजकल ऑफिस में कोई काम कराना होता है तो चपरासी छोटे बाबू, बड़े बाबू और मैनेजरसाहब सबके सामने गिड़गिड़ाना पड़ता है, लेकिन बॉस आपका 'अपना आदमी' है तो उसके अधीन जो भी कर्मचारी हैं वे आपको देखते ही सैल्यूट मारने लगते हैं। फिर आपको चपरासी, छोटे बाबू, बड़े बाबू की जी हुजूरी करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। और कहीं यदि मिनिस्टर साहब आपके 'अपने आदमी' हुए तब तो आपकी पांचों उंगलियां घी में हैं ही।

जब तक हम इन्द्रिय मन बुद्धि के स्तर पर जीते रहेंगे, ये हमें नाच नचाते रहेंगे और हमें नाचना पड़ेगा ही, लेकिन इन सबके ऊपर इनका परम बॉस परमात्मा है, उससे पहचान कर लेने के बाद उसमें स्थित होने के बाद ये नहीं सता पाएंगे। इसलिये हमारी पहली चाल तो यह बोध करना है कि आत्मा के कारण ही ये इन्द्रिय मन बुद्धि चेतनावान लगते हैं, और फिर अगली चाल है आत्मनियंत्रण द्वारा अपने आप को आत्मा में स्थित करना– मैं शुद्ध बुद्ध आत्मा हूं' इस भाव को बनाए रखना। ऐसा करने से काम रूपी दुर्जय शत्रु मर जाएगा।

जैसे छोटा बच्चा गेंद, कंचे, खिलौने आदि से खेलता है, इन खिलौनों को हठात् छीन लिया जाए तो वह बहुत रोएगा। पर जब वह बड़ा होता है तो उसकी रुचि सिनेमा में या पुस्तकों में हो जाती है और ये खिलौने सहज ही छूट जाते हैं। यानि आनन्द के विस्तृत क्षेत्र का ज्ञान होने के बाद छोटी छोटी चीजों की पर्वाह ही नहीं रहती। हम भी यदि शास्त्रों के वचनों परश्रद्धा रख कर आत्मा में अवस्थित होने पर मिलने वाले परम आनन्द का विश्वास करेंगे और उसी में स्थित होने, उसी को अपने तत्वरूप में पहचानने का प्रयत्न करेंगे तो कामरूप शत्रु हमें छका नहीं पाएगा।

भगवान महाबाहो शब्द का प्रयोग कर के हमें प्रेरणा दे रहे हैं, 'तुम शक्तिवान हो, तुम समर्थ हो, तुम चाहो तो ऐसा कर सकते हो, तुम्हे करना ही है। जागो! उठो! कर्मयोग के हथियार को थाम कर युद्ध करो। विजय सुनिश्चित है।

इस प्रकार ज्ञान कर्म योग नामक तृतीय अध्याय पूर्ण हुआ।

ॐ तत् सत्

तृतीय अध्याय का उपसंहार

तृतीय अध्याय में विवेचित कर्मयोग की भूमिका भगवान ने द्वितीय अध्याय में ही बना दी थी और उस समय नाम दिया था बुद्धि योग। उन्होंने कहा था, 'अर्जुन अब तुम्हें बुद्धि योग के विषय में बताता हूं जिससे कर्म का बंधन छूट जाता है।' तात्पर्य यह था कि कर्म करो किन्तु साथ ही बुद्धि का इस प्रकार परिमार्जन करो कि कर्म बांधा नहीं पाए, नई-नई वासनाओं, राग-द्वेषों, आशा-निराशाओं का जाल फैला नहीं पाए। अर्जुन को जब स्पष्ट

समझ नहीं आया तो तृतीय अध्याय में उन्होंने कहा कि कर्म तो मनुष्य को हर हालत में करना ही है। कर्म किए बिना तो एक क्षण भी रहा नहीं जा सकता, कर्म तो जीवन के लिए आवश्यक है, अतः हम कर्म करें पर उसे यज्ञ बनाते हुए करें। यह सारी प्रकृति निरंतर यज्ञ कर्म में लगी हुई है और अपने कर्मों को भी हम इसमें दी गई आहुति अर्थात् अपना योगदान समझते हुए निस्संग बने रहे। यह निस्संगता तभी आती है जब अपने कर्ताभाव और भोक्ताभाव का त्याग कर दें। तब संसार में जीवन निर्वाह के सभी कर्म करते हुए भी हम स्वच्छन्द और मुक्त रहेंगे।

कर्म की आवश्यकता पर बहुत अधिक बल देते हुए भगवान ने कहा कि किसी भी स्थिति में कर्म त्याग करना उचित नहीं है। जिनके हृदय में वासनाएं, कामनाएं हैं उन्हें तो यज्ञ भावना के साथ कर्म करते हुए इन वासनाओं का क्षय करना ही है और जो पूर्णकाम, आत्मतृप्त हैं उन्हें लोगों के बीच उदाहरण प्रस्तुत करने के लिए कर्म करना चाहिए। उन्हें किसी को भी कर्म के त्याग का उपदेश नहीं देना चाहिए वरन् असंगता के साथ स्वयं कर्म करते हुए अज्ञानियों को भी निष्काम कर्म की राह दिखानी चाहिए।

भगवान ने द्वितीय अध्याय में स्थितप्रज्ञ की छवि प्रस्तुत की थी और तृतीय अध्याय में कर्मयोगी का चित्रांकन किया है। मनुष्य के व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं। एक चिंतन शक्ति है दूसरी क्रिया शक्ति। सामान्यतः हम देखते हैं कि एक व्यक्ति में एक ही पक्ष अधिक शक्तिशाली होता है। चिन्तन अर्थात् धर्म अधर्म का निर्णय और उचित अनुचित का विवेक किए बिना घोर कर्म में लगे रहने वाले मनुष्य धीरे-धीरे राक्षस बनते जाते हैं। वे अपनी इच्छा पूर्ति या अहं की तुष्टि के लिए हर कार्य को जायज समझते हैं। दूसरी ओर कुछ लोग स्वभाव से चिंतनशील होते हैं, और यह देखा गया है कि मनुष्य में जैसे-जैसे चिन्तन पक्ष प्रबल होता जाता है क्रियाशक्ति कम होती जाती है। संसार के प्रति उदासीनता आती जाती है।

महान चिन्तक और विचारक बहुधा अपने अगल-बगल के वातावरण से, अपने घर-परिवार, शरीर तक से उदासीन होते हैं। भगवान तो दोनों से भिन्न एक आदर्श प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें चिन्तन शक्ति और क्रियाशक्ति दोनों समान बलशाली है जैसे कि स्वयं उनमें थी। वह बुद्धि योगी भी हो और कर्मयोगी

भी। वह संसारी की भांति व्यवहार भी करे और असंग भी बना रहे। भगवान ने बताया कि हमारी असंगता में बाधक काम ही है जो मामूली संयम से वश में आने वाला नहीं। इसे तो अपना प्रबल शत्रु समझना चाहिए और इसके विरुद्ध चारों ओर से नाकेबन्दी करके इसे मार डालना चाहिए। ऐसा करने से हमारे सारे कर्म, बन्धन के साधन न होकर उद्धार के साधन बन जाएंगे।

इस प्रकार श्रीकृष्ण अर्जुन संवाद में कर्म योग नामक तृतीय अध्याय यहीं पूर्ण हुआ।

ॐ तत् सत्